ॐ श्रीपरमात्मने नमः

# कल्याण



वर्ष ५८
संख्या ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

( संस्करण १,७०,००० )

# विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०९, मार्च १९८४



## चित्र-सूची



प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.०० रु० विदेशमें—१० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य भारतमें २४.०० रु० विदेशमें ५२.०० रु० ( ३ पौण्ड ५० पेंस )

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



भगवान् विष्णुसे अवतारके लिये प्रार्थना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



# कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ गोरखपुर, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०९, मार्च १९८४ ई० संख्या ३ पूर्ण संख्या ६८८

## अवतारके लिये देवताओंद्वारा स्तुति

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता ।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता ॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई ।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई ॥
जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा ।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा ॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगतमोह मुनिबृंदा ।
निसि बासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंदा ॥

# कल्याण

दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनके दुःखको अपना दुःख बनाकर सुख उन्हें दे देना—इस प्रकारका क्षणभरका मनोरथ भी महान् पुण्यरूप है। दूसरेके दुःखको सर्वथा अपना बना लेना तो अत्यन्त ही महत्त्वकी बात है, उसके दुःखका जरा-सा हिस्सा बँटाना भी बहुत बड़ा सौभाग्य है। इसीमें मानवताका विकास है।

सत्पुरुषोंको दुःख होता है, पर अपने दुःखसे नहीं, अपने दुःखकी तो उन्हें परवा ही नहीं होती। वे तो दूसरोंके दुःखसे ही दुःखी होते हैं। इसी प्रकार निर्विकार संतोंकी सहज नित्य सुखरूपता भी दूसरेके सुखमें अपने अस्तित्वका अनुभव किया करती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

**संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पर कहै न जाना॥**
**निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥**

'कवियोंने संत-हृदयकी तुलना नवनीतसे की, पर वह ठीक बैठी नहीं, क्योंकि मक्खन तो स्वयं ताप ( गरमी ) पाकर पिघलता है, लेकिन पवित्र-हृदय संत दूसरेके दुःखसे द्रवित हो जाते हैं।'

इसीलिये संत पुरुष स्वयं विपत्तिका वरण करके दूसरेको सुख पहुँचाया करते हैं। उनका जीवन होता ही है इसीलिये; नहीं तो उन आप्तकाम महात्माओंका जगत्के कर्मप्रपञ्चसे क्या सम्बन्ध ?

संसारमें उनका जीवन सर्वथा घृणित, पापमय और निकृष्ट है जो दूसरोंको दुःख देनेके लिये ही जीवन धारण करते हैं और उसीमें सुख तथा सफलताकी अनुभूति करते हैं।

× × ×

भूखे गरीबको अन्न, नंगेको कपड़ा, रोगीको दवा तथा पथ्य और निराश्रयको आश्रय जरूर दो, परंतु मनमें ऐसा अभिमान कभी मत करो कि वह आश्रय-हीन दरिद्र है और मैं उसपर उपकार करनेवाला समर्थ कृपालु हूँ। असलमें सबको भगवान् ही देते हैं। तुम तो उसमें निमित्तमात्र हो। शुभकर्ममें भगवान्ने तुमको निमित्त बनाया है, यह तुमपर उनकी विशेष कृपा है।

सभी रूपोंमें भगवान् हैं, यह समझकर भगवत्पूजाकी भावनासे गरीब, अपाहिज और रोगीकी खूब सेवा करो, और भगवान्ने इन रूपोंमें आकर तुम्हारी सेवाको स्वीकार किया, इसे अपना परम सौभाग्य समझो।

असलमें तुम्हारे पास तुम्हारा अपना है ही क्या ? सभी वस्तुएँ भगवान्की ही हैं। तुम उन्हें अपनी मानकर, और अपनेको उनका दाता समझकर अभिमान करने लगो तो यह तुम्हारी बेईमानी होगी। प्रभुकी वस्तु प्रभुके अर्पण हो और यह कार्य सुचारुरूपसे—सुव्यवस्थित रीतिसे—हो, यही तुम्हारा कर्तव्य है। कर्तव्यसे चूकते हो तो तुम मालिकके अपराधी बनते हो।

भगवान्की वस्तुओंको अपनी मानना बेईमानी, उन्हें अपनी बताकर किसीपर अहसान करना बेईमानी, अपनेको उनका दानी घोषित कर रोब गाँठना बेईमानी और न देकर स्वयं मालिक बन बैठना तो सबसे बड़ी बेईमानी है। ( बेईमानकी लोक-परलोक—दोनोंमें दुर्गति होती है। ) यह सदा स्मरण रखो कि सब कुछ भगवान्का है और सब भगवान्के रूप हैं। भगवान्की वस्तु, भगवान्को जब जिस रूपमें जैसे जरूरत हो, उसी रूपमें वैसे ही देनेके लिये ही वह वस्तु तुम्हें सौंपी गयी है और इस सेवाका तुम्हें सदा बदला मिलता रहता है—यहाँ योग-क्षेमका निर्वाह होता है और मति-गति शुभ होती है। आगे इससे भी बहुत बड़ा पुरस्कार मिलनेवाला है, इस सेवाके बदलेमें मालिक स्वयं तुम्हें अपना आत्मदान करनेवाले हैं। इसलिये ईमानदारीसे सेवा करनेमें कभी मत चूको। —**'शिव'**

# साधकोंके प्रति—

हम यह तो कहते हैं कि मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, प्राण मेरे हैं, पर यह नहीं कहते कि मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ, मैं इन्द्रियाँ हूँ, मैं प्राण हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं'-पन 'मेरा'-पनसे अलग है अर्थात् मेरे कहलानेवाले पदार्थोंसे मैं अलग हूँ। विचार करें तो मेरे कहलानेवाले पदार्थ भी वास्तवमें मेरे नहीं हैं, अपितु प्रकृतिके हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही ये मेरे प्रतीत होते हैं।

अपना स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीरोंसे अलग है। अतः स्वरूपमें इन शरीरोंकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं और स्वरूप नहीं बदलता। स्वरूप इन अवस्थाओंको जाननेवाला है; अतः इनसे अलग है। यदि इन अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अलग न होता, तो इन तीनों अवस्थाओंकी गणना कौन करता ? और इनके बदलनेको कौन देखता ? अवस्थाएँ तीन हैं और ये बदलती हैं—इसमें किसीको भी संदेह नहीं। तात्पर्य यह निकला कि अपना स्वरूप अवस्थाओंसे अलग है।

हम सबका यह अनुभव है कि अवस्थाएँ हमारे बिना नहीं रह सकतीं, पर हम अवस्थाओंके बिना रह सकते हैं, और रहते भी हैं। जब जाग्रत्से स्वप्न-अवस्थामें जाते हैं, तब उस ( जाग्रत् और स्वप्नकी ) सन्धिमें कोई अवस्था नहीं होती। इसी प्रकार स्वप्नसे सुषुप्ति-अवस्थामें जाते हैं, तब उस सन्धिमें कोई अवस्था नहीं होती। परंतु उनकी सन्धिमें कोई अवस्था न होनेपर भी हम रहते हैं। स्वप्न-अवस्था चली गयी और जाग्रत्-अवस्था आ गयी, सुषुप्ति-अवस्था चली गयी और जाग्रत्-अवस्था आ गयी—इस प्रकार अवस्थाओंके बदलनेको हम जानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हम अवस्थाओंसे अतीत हैं।

'मैं' शब्दके दो अर्थ हैं—एक सतारूप वास्तविक 'मैं' और दूसरा माना हुआ 'मैं'। वास्तविक 'मैं' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, पर माना हुआ 'मैं' किसी भी समय एक नहीं रहता, अपितु बदलता रहता है; जैसे—मैं जागता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इत्यादि। यह माना हुआ 'मैं' परस्पर विरुद्ध मान्यता भी करता है; जैसे—पिताके सामने 'मैं पुत्र हूँ' और पुत्रके सामने 'मैं पिता हूँ'। अतः यह माना हुआ 'मैं' हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। इस 'मैं'को पकड़नेसे ही हम परिच्छिन्न होते हैं; क्योंकि जिसके साथ हम 'मैं' मानते हैं, वह परिच्छिन्न ( एकदेशीय ) है। अपनी वास्तविक सत्तामें परिच्छिन्नता नहीं है।

मानी हुई परिच्छिन्नता मिटानेके लिये साधक ऐसा मान ले कि 'मैं भगवान्का हूँ' अथवा विवेकपूर्वक यह मान ले कि माना हुआ 'मैं' अर्थात् असत् मेरा स्वरूप नहीं है। स्वरूपके प्रकाशमें मन-बुद्धिके समान 'मैं' पन भी प्रकाशित होता है। गहरा विचार किया जाय तो ज्ञान ( बोध ) वस्तुतः असत्का ही होता है, सत्का नहीं। 'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान तो रहता ही है, और इसमें किसीको सन्देह नहीं होता। परन्तु अपनी सत्तामें जो असत्को मिलाया हुआ है, उस असत्का ज्ञान हमें नहीं होता। यह सिद्धान्त है कि असत्का ज्ञान असत्से अलग होनेपर होता है, और सत्का ज्ञान सत्से अभिन्न होनेपर होता है; क्योंकि वास्तवमें हम असत्से भिन्न और सत्से अभिन्न हैं। अतएव जिस क्षण असत्का ज्ञान होता है, उसी क्षण असत्की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्से अपनी

भिन्नताका बोध हो जाता है। असत्से भिन्नताका बोध होते ही सत्में हमारी स्थिति स्वतः सिद्ध है, करनी नहीं पड़ती। वह सत् ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंको, उनके परिवर्तनको और उनके अभावको जानता है। जाग्रत्में स्वप्न और सुषुप्तिका अभाव, स्वप्नमें जाग्रत् और सुषुप्तिका अभाव तथा सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका अभाव होता है। पर अपना अभाव कभी नहीं होता। सब अवस्थाओंमें अपना भाव अर्थात् अपनी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। यह सबका अनुभव है। साधकको चाहिये कि वह अपने अनुभवको महत्त्व दे अर्थात् अपने स्वरूपमें अटल भावसे स्थित रहे।

# धर्म

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती )

## धर्मका मूल

भौतिक ज्ञान, तद्गत विशेषताओंका अनुसन्धान 'विज्ञान'के नामसे प्रसिद्ध है। कर्मका ज्ञान और तद्गत विशेषताओंका अनुसन्धान 'धर्माधर्म-विज्ञान' कहलाता है। साधारण धर्म सच्चिदानन्दघन अद्वय ब्रह्मस्वरूप उपादानकी प्रधानतासे होता है। वस्तुतः निखिल प्रपञ्चका मूल तत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। अतएव वह सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु एवं सर्वव्यक्तिमें अनुगत रहता है। साधारण धर्म सर्वदा सर्वत्र सर्व प्रकारके अधिकारियोंके लिये आवश्यक होते हैं और यथाकथंचित् गुप्त-प्रकटरूपसे उनमें रहते भी हैं। सृष्टिमें जहाँ पूर्णता अधिक विकसित होती है वहाँ वे अधिक मात्रामें होते हैं और जहाँ कम मात्रामें होती है वहाँ कम। पूर्णतामें तारतम्य नहीं होता, अभिव्यक्तिके प्रकारमें तारतम्य होता है। प्राणी-अप्राणी सभी पदार्थोंमें धर्माधर्मका ह्रास-विकास होता रहता है। पूर्णताका सर्वाधिक विकास मानव-शरीरमें होता है। मनुष्यमात्रके लिये साधारण धर्म उपादानसे ही प्राप्त है। उपादानगत धर्मके विकासमें सत्से जीवन, चित्से ज्ञान तथा आनन्दसे सुखका प्रकाश होता है। अद्वयता अभेद और मेल-मिलापके रूपमें प्रकट होती है। जीवनदान, ज्ञानदान, सुखदान और प्रेमदान जीवमात्रके लिये अकृत्रिम सहज धर्म है। इसमें प्रकाश-तारतम्यसे ही ह्रास-विकास अथवा तारतम्य प्रतीत होता है।

## मनुष्यमें ही धर्माधिकार—

धर्म सभी पदार्थोंमें होता है। अभिव्यक्तिके भेदसे उनमें परस्पर वैधर्म्य भी होता है। कोई रोगका हेतु है कोई औषधका हेतु, कोई मधुर है तो कोई कटु, कोई शुक्ल है, कोई कृष्ण। इन विशेषणोंकी गणना आवश्यक नहीं है। मनुष्यके शरीरकी रचना अधःस्रोत है, तथैव ऊर्ध्वस्रोत होते हैं और पशु-पक्षी तिर्यक्स्रोत है। इसका अभिप्राय यह है कि विरञ्चि-प्रपञ्चमें रचनागत जीवनी चातुरी है वह मनुष्यके निर्माणमें प्रकट हो गयी है। अब यह विशेष धर्मका आश्रय लेकर अपनेको प्रपञ्च-जालसे मुक्त करनेका प्रयास नहीं करेगा तो फिर पशु-पक्षियोंके समान तिर्यक् स्रोत अथवा लता-वृक्षके समान ऊर्ध्वस्रोत जातियोंमें जन्म ग्रहण करेगा; क्योंकि योग्यताके अनुसार ही पदकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यके दो हाथ उसके कर्माधिकारकी सूचना देते हैं। बुद्धिकी विशेषताको सूचित करते हैं—नये-नये आविष्कार। विविध गन्ध, स्वाद, सौन्दर्य, स्पर्श, स्वर आदिकी सृष्टि उसकी सुख-वासनाको निवारण करती रहती है। परस्पर सम्बन्ध आनन्द-भावके, अभेद-भावके सूचक हैं। ऐसी स्थितिमें मनुष्य यदि अपनी विशेष योग्यताका उचित और उपयुक्त प्रयोग न करे तो वह उत्थानकी दिशासे च्युत होकर पतनकी ओर भ्रष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह कि मनुष्य अपने स्वभाव-

प्राप्त योग्यताका उचित उपयोग कर अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है और उनका ठीक-ठीक उपयोग न करनेपर उन योग्यताओंसे वंचित होकर पतनीय दशाको प्राप्त हो जाता है।

मानव-शरीरमें स्वतः प्राप्त योग्यताकी ग्लानि-म्लानि न हो और वह अपनी सहज पूर्णताको अभिव्यक्ति कर ले, इसके लिये कर्म-क्षेत्रमें विशेष धर्मकी आवश्यकता होती है।

## धर्मका निमित्त

प्रपञ्चके उपादानको ब्रह्म, प्रकृति, परमाणु, पुद्गल-शून्य, विज्ञान, भूतचतुष्टय—कुछ भी कहें वह भेदकी अभिव्यक्तिसे पूर्णकी दशा ही है। भेद प्रकट होनेपर उनका समत्व सबमें अनुगत ही रहता है। विवर्त, परिणाम या आरम्भ कुछ भी क्यों न हो—मूल तत्त्व अर्थात् उपादानकी दृष्टिसे धर्माधर्मका विभाग नहीं हो सकता। सभी कार्योंमें प्रतीयमान विक्रिया समान ही होती है। अतएव मनुष्यके द्वारा कर्तृत्वपूर्वक या प्रयत्न-पूर्वक किये जानेवाले व्यापारोंमें धर्माधर्मका विभाग आवश्यक हो जाता है। वह उपादानकी दृष्टिसे नहीं होता, अनुशासनकी दृष्टिसे होता है। कुछ भी हो धर्माधर्मका विभाजक-निमित्त उपादान कारण नहीं, संविधान शास्त्रगत विधि-निषेध ही हैं। भले ही वे विधि-निषेध देश, काल, समाज, जाति, सम्प्रदाय, अवस्था वय, शक्ति, बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न क्यों न हों?

भेदात्मिका-सृष्टिमें विक्रिया स्वाभाविक है और क्रिया कर्तृत्वपूर्वक की गयी। क्रियामें ही मनुष्यका स्वातन्त्र्य है कि वह क्या करे क्या न करे? कोई वस्तु जैसे चाँदी-सोना दुष्ट नहीं है। उसके साथ धर्माधर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। परंतु उनको ग्रहण करना या त्याग देना यह क्रिया मनुष्यके अधीन है। इसलिये उसीके साथ धर्माधर्मका सम्बन्ध होता है। कोई भी स्त्री-पुरुष स्वभावसे दूषित नहीं है, परंतु उनमें-से कौन किसके उपभोगका अधिकारी है, इस उपभोगकी क्रियासे ही धर्माधर्मका सम्बन्ध है, स्त्री-पुरुषसे नहीं। तात्पर्य यह कि जिस कर्मको करनेमें मनुष्यका स्वातन्त्र्य है उसीके करने, न करनेके विधि-निषेध होते हैं और विधि-निषेधके आचरण और उल्लंघनसे ही धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति तत्काल सुखाभास उत्पन्न कर सकती है, परंतु भविष्यके लिये वह वस्तु, व्यक्ति, स्थान, समय, क्रिया या भोगके परतन्त्र बना देती है। स्वच्छन्द प्रवृत्ति ही पराधीनताका मूल कारण है। अनुशासनके द्वारा उसीको नियन्त्रित किया जाता है। शिष्टानुशिष्ट कर्म मिष्ट-अभीष्ट किंवा इष्ट फलका जनक होता है। इसीको 'विशेषधर्म' कहते हैं। वह जीवनमें स्वतः नहीं आता, लानेका प्रयास करना पड़ता है। इसमें अधिकारी, संकल्प, विधि-पूर्वक अनुष्ठान, सामग्री और समग्रताकी अपेक्षा होती है। धर्मका एक अङ्ग भी फलप्रद होता है, परंतु अङ्ग-वैगुण्य होनेपर प्रत्यवायकी भी उत्पत्ति होती है। समग्र धर्म समयपर समग्र फल देता है। वह कर्तामें या उसके अन्तःकरणमें अपूर्वके रूपसे तबतक रहता जबतक उसका फल उदय न हो जाय। 'कर्मका विहित नियन्त्रण' धर्म है। वासनाका विहित नियन्त्रण उपासना है। वृत्तिका विहित नियन्त्रण योग है।

नियन्त्रणके बिना कोई भी साधना अपने साध्य आकारके रूपमें परिणत नहीं होती है। जैसे दूध विधिपूर्वक जमानेपर दही हो जाता है और उससे नवनीत निकलता है, इसी प्रकार कर्म विधिपूर्वक करनेपर धर्म हो जाता है और उससे सुखकी प्राप्ति होती है। कर्ममें विधि-निषेध, उपासनामें आवाहन-विसर्जन, योगमें अभ्यास-वैराग्य और तत्त्वज्ञानमें अध्यारोप-अपवाद—ये सब मिलते-जुलते साधनाके प्रकार-भेद ही हैं। इनमें सामान्य एक ही है। मूल वस्तु ज्यों-की-त्यों है। कर्म, उपासना, योग और ज्ञानके द्वारा उसका शोधन अथवा अनुसन्धान ही उत्पन्न होता है। परम्परया

अथवा बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग रूपसे सब साधन समन्वित होते हैं और एक ही लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते हैं।

## नाम-रूप सृष्टि और वेद

यह कहा जा चुका है कि सामान्य धर्म जगत्के मूल उपादान सच्चिदानन्दघन अद्वय-ब्रह्मकी प्रधानतासे होते हैं और विशेष धर्म अपने निमित्त कारण अनुशासनकी प्रधानतासे। जैसे सृष्टि अनादि है वैसे ही दृष्टि भी अनादि है। जैसे रूपात्मक सृष्टि अनादि एवं प्रवाहरूपसे नित्य है ऐसे ही नामात्मक सृष्टि भी अनादि और अनन्त है। जैसे मूल धातुमें रूप व्याकृत होते हैं, वैसे ही मूल धातुमें शब्द भी व्याकृत होते हैं। नाम-रूपका विभाग कार्यावस्थामें ही है, कारणावस्थामें नहीं। अतएव प्रलयके समय रूप-प्रपञ्चके समान ही नाम-प्रपञ्च भी विलीन रहता है और सृष्टिके समय उनका आविर्भाव हो जाता है। मूलतः नाम और रूप एक ही तत्त्व हैं। परावाणीमें नाम-रूपका विभाग नहीं है। अतएव द्रष्टाके सम्मुख जब दृश्य-रूप आते हैं तभी दृश्य-शब्द भी आते हैं। अतएव वेदवाणीका निर्माण नहीं होता, दर्शन होता है। संस्कृत-भाषामें 'ऋषि' शब्दका अर्थ भी द्रष्टा है। जैसे ईश्वरके सन्निधानसे यथापूर्व सृष्टिका उदय होता है वैसे ही वेदोंकी आनुपूर्वीका भी! इसीसे वेदको अनादि-निधन नित्य कहा गया है। उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता।

## धर्म-प्रामाण्य-वैलक्षण्य

ज्ञानका जो परमार्थ-स्वरूप है, वही वेदका भी परमार्थ-स्वरूप है। ज्ञानका प्रथम निर्माता कोई नहीं है, न ईश्वर न जीव; क्योंकि निर्माणको ज्ञानकी अपेक्षा होती है। यदि कोई निर्माण करेगा तो ज्ञानके अनुसार ही करेगा। ईश्वर-जीवका विभाग भी ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। ईश्वर जीवरूप-पुरुषके द्वारा निर्मित न होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं। इनमें पुरुषनिष्ठ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा ( ठगी ) कर्णापाटव ( ऐन्द्रियिक शक्तिकी न्यूनता ) आदि दोष-पंककी कलंकरेखा नहीं है। वेद वह विज्ञान नहीं है जो लौकिक वस्तुओंका अनुभव करके उदय होता है। वह नित्य-सिद्ध विज्ञान है। धर्मका निर्णय करनेमें वही प्रमाण है। वैदिक विज्ञानके निमित्तसे ही धर्माधर्मका निश्चय होता है। कहना न होगा कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके धर्म-ग्रन्थके स्वरूप एवं आविर्भावके सम्बन्धमें इस प्रकारकी गम्भीर दृष्टि परिलक्षित नहीं होती। अतएव वेदके समकक्ष किसी भी साम्प्रदायिक ग्रन्थको रखा नहीं जा सकता। वेद सम्प्रदायविशेषके धर्मविशेषका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थविशेष नहीं है, वह सार्वकालिक, उदय-विलयशील प्रपञ्चका शाश्वत धर्म-बोध है। किसी भी राष्ट्र, जाति, लिङ्ग या समाजकी सीमामें वह आबद्ध नहीं है। सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वव्यक्तियोंके लिये अधिकारानुसार, अर्थात् सबकी योग्यताके अनुसार सबके हितके लिये अनुष्ठेय धर्मका प्रतिपादन करता है।

यह अनन्त वेदराशि दो प्रकारसे पदार्थका निरूपण करती है—१–सिद्ध वस्तुका वर्णन, २–साध्य वस्तु और उसकी प्राप्तिके उपाय। पहला ब्रह्म है और दूसरा धर्म। सिद्ध वस्तुका साक्षात्कार होता है तद्विषयक अविद्याकी निवृत्तिसे। अविद्याकी निवृत्ति होती है तद्विषयक विद्यासे। ब्रह्मविद्या है ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान। एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान होता है—यह वेदकी प्रतिज्ञा है। इसके लिये स्वर्ण, लौह आदि मूल धातुओंके दृष्टान्त हैं। प्रतीयमान सब कुछ ब्रह्ममात्र ही है। केवल प्रज्ञानघन तन्मात्र आत्माका कभी बाध नहीं हो सकता। आत्मासे भिन्न होनेपर ब्रह्मको कल्पित या जड़ मानना पड़ेगा। महावाक्य स्पष्ट-रूपसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका वर्णन करते हैं। अतएव ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मा, ब्रह्मकी एकताका बोध भेदका बाध

है। अद्वय ब्रह्म ही सिद्धवस्तु है। शम, दम आदि सम्पन्न जिज्ञासु अधिकारीके लिये वेद इसीका निरूपण करता है।

जिनकी दृष्टि विशेष-विशेष सृष्टिमें तादात्म्यापन्न हो गयी है, ब्रह्मात्माके सिद्धि-स्वरूपके अज्ञानसे परिच्छिन्न पदार्थमें अहंता-ममता करके जड़ प्राय: हो गयी है, जो अपनेको कर्ता, भोक्ता, संसारी परिछिन्न मानकर दृश्यके मोह-जालमें फँस गये हैं, उनको वहाँसे छुड़ानेके लिये मातासे भी अधिक वात्सल्यवती, भगवती श्रुति कर्ममार्गका उपदेश करती है। स्वच्छन्द-प्रवृत्तिका निरोध ही कर्म-मार्गका प्रारम्भ है। दुश्चरित्र, दुर्वासना, दुर्गुण, चाञ्चल्य आदि दोषोंका परिहार करके अन्त:-करणको शुद्ध करना और सिद्ध वस्तुके साक्षात्कारके योग्य बनाना, इसी धर्मका कार्य है। धर्म-साधनामें कर्मकी स्वीकृति ही सम्प्रदायका मूल है। साधन अनेक हैं। उनका फल है अन्तःकरणकी शुद्धि। वही साध्य है। धर्मानुष्ठान साध्याकार वृत्तिको उत्पन्न और स्थिर करता है। शुद्धाकार वृत्ति शुद्ध चिन्तनकी धारा है। उसीमें शुद्धतत्त्वकी जिज्ञासा और महावाक्यके निमित्तसे भ्रमनिवर्तक ब्रह्मात्मैक्य प्रभाका जन्म होता है। वह भ्रमको मिटाकर निष्प्रयोजन हो जाती है और स्वरूपमें स्वयं बाधित हो जाती है।

## धर्मका वास्तविक प्रयोजन—आत्म-पदार्थ-शोधन

अन्तःकरण-शुद्धिके लिये पाँच बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है—१—कर्म-शुद्धि, २—भोग-शुद्धि, ३—भाव-शुद्धि, ४—अहंता-शुद्धि, ५—शुद्ध चिन्तन। अन्तःकरण चिन्तनात्मक है। अतः जब चिन्तन शुद्ध हो जाता है तब अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। कल्पित वस्तुके त्यागके बिना अकल्पित यथार्थ परमार्थ सत्यवस्तुका साक्षात्कार नहीं होता।

धर्मानुष्ठानके कुछ अङ्ग हैं। उनसे अधिकार सम्पत्तिके सम्पादनमें अत्यधिक सहायता मिलती है। जैसे वर्ण-व्यवस्था। माण्डूक्योपनिषत्में तत्त्वका निरूपण करनेके लिये साधन और सिद्धिके रूपमें आत्माका चार विभागोंमें निरूपण किया है। वैश्वानर शूद्र है और तैजस वैश्य, प्राज्ञ क्षत्रिय है तथा तुरीय ब्राह्मण है। सेवा, व्यापार, वाणिज्य, उपसंहार एवं तत्त्वज्ञान इनकी वृत्ति है। इसी क्रमसे आश्रम-व्यवस्था भी है। ब्रह्मचारी वैश्वानर हैं तथा गृहस्थ तैजस, वानप्रस्थ प्राज्ञ और संन्यासी तुरीय हैं। जाग्रत-स्वप्न आदिकी उपाधिसे जैसे आत्मामें गुण-धर्मका आरोप होता है, इसी प्रकार चार वर्णों एवं आश्रमोंके भी गुण-धर्म होते हैं। जैसे स्थानानुरूप स्थानीका अनुसन्धान करनेसे आत्म-पदार्थ-का विवेक होता है। वैसे ही साधार वर्णाश्रम-व्यवस्थाका चिन्तन एवं तदनुकूल धर्मानुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अनुष्ठानसहित चिन्तन बुद्धिको निर्मल एवं तदाकार बना देता है। अतएव धर्मज्ञानको धर्मानुष्ठानकी तथा धर्मानुष्ठानको धर्मज्ञानकी अपेक्षा होती है। जो अध्यात्मको ठीक-ठीक नहीं समझता वह वेद ज्ञान एवं क्रिया-फलसे भी वञ्चित हो जाता है, ऐसा शास्त्र-वचन है।

निषिद्ध कर्मानुष्ठानके कारण जितनी अशुद्धियाँ उत्पन्न हुईं वह सब अन्तःकरणमें ही हुईं। ईश्वरमें कोई अशुद्धि नहीं होती। इसलिये अन्तःकरण ही शुद्ध किया जाता है, ईश्वर शुद्ध नहीं किया जाता। अपने अन्तःकरणकी कल्पनाके अनुसार ही ईश्वरमें गुण-दोष प्रतीत होते हैं। यहाँतक कि अन्तःकरणमें जबतक भ्रम है और उसका मूल अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है तभीतक ईश्वरके स्वरूपमें मायाका भी आरोप होता है। मायाके आरोपसे विनिर्मुक्त ईश्वर ब्रह्म ही है। अतएव बुद्धिगत दोष-आवरणके निवारणके लिये ज्ञान एवं मल-विक्षेपके निवारणके लिये धर्मानुष्ठानकी आवश्यकता होती है।

(क्रमशः)

# आत्म-निवेदन

( ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका )

आत्मनिवेदनके सम्बन्धमें सूक्ष्म विचार करना चाहिये । इसमें 'आत्मा' शब्द आत्माके सहित तीनों शरीरोंका वाचक है और 'निवेदन'का अर्थ अर्पण है । जिन वस्तुओंपर हमने अपना अधिकार जमा रखा है, उनको उठाकर भगवान्‌के अर्पण कर देना आत्म-निवेदन है । यह शरणागतिका एक प्रधान अङ्ग है अथवा इसे भक्तिका भी एक प्रधान अङ्ग कह सकते हैं । शरणागतिके चार भेद हैं । शरणागतिका पहला अङ्ग है—भगवान्‌के नाम या स्वरूपको पकड़ना । दूसरा अङ्ग है—भगवान्‌के अधीन हो जाना अर्थात् उनके अनुकूल बन जाना; वे जिस प्रकार चलावें उसी प्रकार चलना । तीसरा अङ्ग है—भगवान् जो कुछ भी विधान करें उसीमें प्रसन्न रहना और चौथा अङ्ग है—भगवत्परायण हो जाना, उन्हींकी गोदमें जाकर बैठ जाना और अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पण कर देना । जब मैं स्वयं ही भगवान्‌के अर्पण हो गया तो मेरी सारी चीजें भी उनके अर्पण हो गयीं ।

आत्मसमर्पण नवधाभक्तिका अन्तिम अङ्ग है । यदि कोई पूछे कि सेव्य-सेवक-भाव और आत्मनिवेदनमें क्या अन्तर है ? तो कहा जा सकता है कि यों तो कोई फरक नहीं है, क्योंकि आगे चलकर तो दास्यभाववाला भी आत्मसमर्पण करेगा और जिसने आत्मनिवेदन कर दिया वह दास ही है; परंतु उदाहरणसे इनका अन्तर इस प्रकार समझ सकते हैं । एक दूकानपर दो मुनीम काम करते हैं, उसका जो कुछ लेन-देन, माल-खजाना है उन सबको वे मालिकका ही मानते हैं । परंतु उनमेंसे एक तो शरीर-निर्वाहके लिये अन्न-वस्त्रमात्र ही लेता है और दूसरा वेतन भी लेता है । इनमें पिछलेका सकाम और पहलेका निष्कामभाव है । निष्कामभाववालेका दर्जा ऊँचा है । दोनोंका ही सेव्य-सेवकभाव है; किंतु इनमें पहले दर्जेवाले भक्तने तो आत्मसमर्पण किया, दूसरेने नहीं ।

प्राचीनकालमें एक और प्रकारके भी दास हुआ करते थे । वे दास ही जन्मते और दास ही मरते थे । उन्हें वेतन आदि कुछ भी नहीं मिलता था और वे दहेज आदिमें भी दिये जा सकते थे । राजाओंमें कहीं-कहीं तो यह प्रथा अब भी है । आत्मसमर्पणका दर्जा इन दास-दासियोंसे भी ऊँचा है । जैसे दो सेनाएँ लड़ रही हैं, उनमेंसे एक राजाकी सेना परास्त हो गयी, वह राजा हार गया तो वह दूसरेको आत्मसमर्पण कर देता है; कहता है कि चाहे मारो, छोड़ो या राज्य लौटा दो, तुम्हें अधिकार है । परंतु यह आत्मसमर्पण करनेवालेको यदि विपक्षी राजा मारे तो उसको दुःख भी हो सकता है; क्योंकि उसने तो लाचार होकर शरण ली है । परंतु जो पुरुष श्रद्धा-भक्ति और प्रेमसे आत्मसमर्पण करता है उसको तो मारने-काटनेपर भी आनन्द ही होता है; दास-दासियोंको भी मारनेपर दुःख होता है; क्योंकि उनका आत्मसमर्पण श्रद्धा-भक्तिरहित है । जो प्रेम, भक्ति और श्रद्धासे आत्मसमर्पण करता है उसका कुछ भी करो, उसको दुःख नहीं होता । जैसे राजा बलिका आत्मसमर्पण प्रेम और श्रद्धापूर्वक था, भय या लाचारीसे नहीं था । उसको गुरु शुक्रने यह बता दिया कि यह साधारण ब्राह्मण नहीं है, तुम्हारा सब कुछ ले लेगा, तो भी उसने जान-बूझकर प्रेम और भक्तिसे अपना सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर दिया और कहा कि जब स्वयं भगवान् इस प्रकार मेरा सर्वस्व लेते हैं तो मेरे लिये इससे अधिक आनन्द और है ही क्या ! जो इस प्रकार भगवान्‌को आत्मसमर्पण करता है उसके

मन, बुद्धि और शरीर आदि सब भगवान्‌के ही हो जाते हैं। उसका उनपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। जड़ वस्तुओंमें इसका उदाहरण कठपुतली हो सकती है। कठपुतलीने नटको आत्मसमर्पण कर रखा है। नट उसका चाहे सो करे! वह उसे कपड़ा पहनावे, युद्ध करावे या और जो कुछ करे, वह अपनी तरफ़से कुछ नहीं करती। परंतु कठपुतलीमें चेतनाशक्ति नहीं है, वह जड़ है। जो पुरुष चेतनाशक्ति रहते हुए अपने-आपको उस कठपुतलीके समान भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसमें शरणागतिके और अङ्ग भी आ जाते हैं। शरणागतिके लिये इतना उपयुक्त दूसरा उदाहरण स्मरण नहीं आता। यदि बाजीगरके बंदरका उदाहरण दें तो वह तो मालिकके आज्ञानुसार चलनेका होगा। यद्यपि यह भी शरणागतिका एक अङ्ग है, परंतु प्रधान बात तो अपने-आपको अर्पण कर देना ही है। जैसे हमलोग एक गाय किसी ब्राह्मणको अर्पण कर दें तो फिर उस गायपर उस ब्राह्मणका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌को अपने-आपको अर्पण कर देनेसे अपना अधिकार नहीं रह जाता है। यदि बारीकीसे विचार किया जाय तो पहलेसे ही चीजें परमात्माकी ही हैं; पर हमने उनपर अपना अधिकार जमा रखा है, वह उठा लिया जाय। जो इस प्रकार समझ जाता है, उसको लोकदृष्टिमें दीखनेवाले कैसे ही सुख-दुःख आकर प्राप्त हों, भगवान् उसका चाहे सो करें, उसको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता। इतना ही नहीं, वह आनन्दमग्न हो जाता है। उसको मालिकके सुखसे ही सुख होता है और मालिक कभी दुखी नहीं होते, इसलिये वह भी सदा सुखी रहता है। फिर उसके द्वारा जो नये कर्म होते हैं वे मालिकके अनुकूल उन्हींके आज्ञानुसार होते हैं; क्योंकि उसके मन, बुद्धि और शरीर प्रभुके अर्पण हो चुके हैं। सारी वस्तुएँ मालिककी हैं, उनपर वह अपनी आज्ञा नहीं चलाता। भक्तिपूर्वक आत्मसमर्पण करनेके कारण वह भगवान्‌के शरण हो जाता है और फिर परमात्माको कभी नहीं भूलता, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करता रहता है।

शरणापन्न भक्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह चाहे उस महाप्रभुसे अलग रहकर चिन्तन करे, चाहे उसमें सम्मिलित होकर। चाहे तद्रूप होकर रहे, चाहे भिन्न सत्तासे रहे। परंतु इस विषयमें उसका कोई सङ्कल्प नहीं होता, उसका मालिक जो चाहे सो करावे। वह तो अपना सारा स्वत्व उसीको सौंप देता है। शरणागत भक्तकी अपनी तो कोई इच्छा ही नहीं होनी चाहिये। यदि उसमें कोई इच्छा हो जाती है तो उसके आत्मसमर्पणमें कसर है। फिर भी यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है; क्योंकि बलिने भी तो पातालमें रहना माँगा था। वह अपनी ओरसे तो कुछ नहीं कहता, परंतु स्वामीके पूछनेपर अपनी इच्छा बता देना भी दोष नहीं है। स्वामी देना चाहे तब भी कुछ न लेना और भी उत्तम है—वह बलिके आत्मसमर्पणसे भी ऊँची बात है। वरदान देनेकी बात कहनेपर वह सच्चा आत्मसमर्पण करनेवाला भक्त यह कहता है—'हे प्रभु! किसको वरदान देते हैं, मैं तो आपकी ही चीज हूँ। कुछ दे-लेकर मुझे अलग करते हैं क्या? यदि यही इच्छा है तो ऐसा कर दीजिये, आपकी ही इच्छापर तो सब कुछ निर्भर है। पिताकी इच्छा है—वे पुत्रको यों ही बिना कुछ दिये घरके बाहर कर दें, सौ-दो-सौ रुपये देकर कर दें अथवा सारी सम्पत्ति दे दें। पिता देख लेते हैं कि पुत्रकी कुछ इच्छा है तभी अलग करते हैं, नहीं तो क्यों करें। सो हे प्रभु! आप यदि वरदान देनेकी बात कहते हैं तो अवश्य मेरे मनमें अलग रहनेका भाव होगा, नहीं तो आप इस प्रकार कैसे कहते? नाथ! अवश्य मेरी कोई नालायकी हुई है, मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

जो कुछ है सो तो आपका ही है । वरदान लेकर अलग कहाँ रखूँ ?' इस प्रकारका आत्मसमर्पण सख्यभाव और दास्यभाववाले भी कर सकते हैं । अतः आत्म-समर्पण भक्तिका एक पृथक् अङ्ग है । सख्य और दासभाववाले ऐसा कर भी सकते हैं और नहीं भी करें तो कोई आपत्ति नहीं । यदि कहा जाय कि मित्रता तभी पूरी होगी, जब आत्मसमर्पण कर दिया जायगा; सो ठीक है, परंतु मित्र तो इसके बिना भी हो सकता है । विभीषणके आत्मसमर्पणमें इतना महत्त्व नहीं प्रतीत होता । श्रीकृष्णको सखाभावसे आत्मसमर्पण तो गोपियोंने ही किया था । वे अपने ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं समझती थीं । एकमात्र श्रीकृष्णका ही अधिकार मानती थीं । एक पुरुषमें नवधा भक्तिके सारे भेद भी रह सकते हैं और दो-चार अङ्ग भी रह सकते हैं । भजन-ध्यान, सेवा-नमस्कार करते हुए आत्मसमर्पण नहीं भी हो सकता है । हाँ, और सब भक्तियाँ आ जानेपर भी यदि आत्मसमर्पण नहीं होता तो इतनी कमी ही है । जिसमें आत्मसमर्पण नहीं है वह भी भक्त तो है और कहलाता भी भक्त ही है, परंतु आत्मसमर्पण कर देनेवाले भक्तकी तो महिमा ही अलग है । इसलिये नवधा भक्तिमें इस अङ्गको अन्तिम बतलाया गया है । यही सबसे ऊँचा भाव है । (क्रमशः)

# परमोपयोगी साधन

## ( एक संतका प्रसाद )

[ गताङ्क वर्ष ५७, अङ्क-सं० १२, पृष्ठ-सं० ९३० के आगे ]

११२—कर्मका त्याग त्याग नहीं, अपितु कर्मफलका त्याग ही वास्तविक त्याग है ।

११३—सत्कर्म और सच्चिन्तनसे अपना और संसारका लाभ है तथा असत्कर्म और असच्चिन्तनसे अपनी और संसारकी हानि है ।

११४—साधकको स्त्री, धन और नास्तिक-सम्बन्धी चरित्रोंकी चर्चा नहीं करनी चाहिये ।

११५—स्त्री और रजोगुणी पुरुषोंके सङ्गसे भी अधिक विघ्न-कारक नास्तिकोंका सङ्ग है ।

११६—भक्त और अभक्त दोनों ही भोजन करते हैं, किंतु भक्त तो शरीर-रक्षाबुद्धिसे भोजन करता है और अभक्त स्वादके लिये खाता है ।

११७—इन बारह नियमोंका पालन करनेवाला पुरुष धर्मात्मा बन सकता है—

( १ ) सत्य भाषण ।

( २ ) दम—इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोकना ।

( ३ ) शम—निरन्तर चित्तमें शान्ति रखना ।

( ४ ) तप—नियमपूर्वक आश्रम-धर्मका पालन करना ।

( ५ ) शौच—बाहर-भीतर पवित्रता रखना ।

( ६ ) संतोष—प्रारब्धवश जो प्राप्त हो उसीमें सन्तुष्ट रहना ।

( ७ ) लज्जा—अधर्माचरणमें संकोच होना ।

( ८ ) क्षमा—सुख-दुःखको धैर्यपूर्वक सहना ।

( ९ ) आर्जव—सरल भावसे बर्ताव करना ।

( १० ) ज्ञान—प्रत्येक कार्यको विचारपूर्वक करना ।

( ११ ) दया—यथाशक्ति दीनोंकी सेवा करना ।

( १२ ) ध्यान—भगवान्‌का भजन, स्मरण, ध्यान और कथा-श्रवण आदि ।

११८—प्रतिदिन सोनेसे पहले विचार करो कि आज हमारा कितना समय सत्त्वगुणमें बीता और कितना रजोगुण-तमोगुणमें । इसका नित्य-प्रतिका हिसाब रखनेसे मनुष्य सत्त्वगुणी बन सकता है और उसमें दैवी सम्पत्तिके गुण आ जाते हैं ।

११९—ध्यान, जप, सेवा, स्वाध्याय और सत्सङ्ग—ये पाँच प्रधान साधन हैं । इन्हें बराबर करते रहना

चाहिये। यदि एकसे चित्त हटे तो दूसरा करने लगे। इस प्रकार एक-एक करके पाँचोंका अभ्यास करता रहे। यही साधकका प्रधान कर्तव्य है।

१२०—निष्ठाके आठ प्रकार हैं जैसे—(१) ज्ञाननिष्ठा (२) वैराग्यनिष्ठा (३) सत्यनिष्ठा (४) जपनिष्ठा (५) दाननिष्ठा (६) उपकारनिष्ठा (७) भक्तिनिष्ठा (८) ध्याननिष्ठा।

१२१—अपनेसे बड़ोंको देखकर हर्ष करना चाहिये, समान स्थितिवालोंसे मैत्री करनी चाहिये, छोटोंको देखकर करुणा करनी चाहिये तथा दुष्ट और पापियोंके प्रति उपेक्षाका भाव रखना चाहिये।

१२२—साधनमें ये आठ नियम बहुत उपयोगी हैं—

(१) दिखावट न होनी चाहिये।

(२) ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

(३) सर्वदा ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठो। भजनके लिये यह सबसे अच्छा समय है।

(४) मिताहारका पूरा ध्यान रखो।

(५) जो भोजन चित्तको अधिक प्रिय हो वह कम करो।

(६) क्रोधसे सर्वदा बचो, चित्तको क्षुब्ध न होने दो।

(७) जप, ध्यान, पाठ ये सब नियत समय और नियत संख्यामें करो।

(८) सोनेसे पूर्व इस बातका निरीक्षण करो कि आजका समय किस-किस प्रकार किस-किस काममें लगा है।

१२३—सबसे बड़ी चीज है चाह अर्थात् तीव्र लगन। चाहसे ही सिद्धि होती है और इसीसे साक्षात्कार होता है।

१२४—साधनके दो भेद हैं—(१) क्रमसाधन और (२) मुख्य साधन। इनमेंसे क्रम साधनके अनुसार तो पहले कर्मकाण्डका आचरण करना चाहिये। उसके द्वारा मलकी निवृत्ति होनेपर उपासनामें प्रवृत्ति होती है। उपासनासे विक्षेपका नाश होनेपर जिज्ञासा होती है और फिर विचारके द्वारा ज्ञान होनेपर आवरण भङ्ग होता है। यह तो हुआ क्रमसाधन। मुख्य साधन तो केवल विचार ही है, जो प्रायः सत्सङ्गसे ही प्राप्त होता है।

१२५—सत्पुरुषोंकी वाणीमें चार गुण होते हैं—सत्य, परिमितता, मृदुता और सरसता। जब ये चार बातें आ जाती हैं तो वाणी शुद्ध हो जाती है तथा कठोरता, निन्दा, चुगली और झूठ जो वाणीके पाप हैं नष्ट हो जाते हैं।

१२६—राग-द्वेष होता है कार्यपर दृष्टि होनेसे, कारणदृष्टि होनेसे राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि कारण तो शुद्ध सत्त्वमय है और कार्य केवल मायामात्र है। अतः सर्वदा कारणदृष्टि रखो।

१२७—जो कुछ कार्य किया जाय उसमें भगवत्सेवाका भाव रखना चाहिये।

१२८—शास्त्र और गुरुकी आज्ञा पालन करनेसे तथा नियमनिष्ठासे साधनमें कोई विघ्न नहीं हो सकता। इनमें भी शास्त्राज्ञाकी अपेक्षा गुरुकी आज्ञा श्रेष्ठ है।

१२९—ईश्वरसे प्रेम होना—यही 'विधि' है और जगत्से प्रेम न होना—यही 'निषेध' है।

१३०—काम्य-कर्मके त्यागको संन्यास कहते हैं। जिस कर्मके द्वारा लोक या परलोकके सुख अष्ट-सिद्धियों, नव-निधियों अथवा ब्रह्मलोक प्राप्त होनेकी भी आशा हो वह काम्य-कर्म ही है। इसी प्रकार कर्मका त्याग त्याग नहीं है, अपितु कर्मफलका त्याग ही त्याग है।

पश्चात्ताप करनेसे पाप नष्ट हो जाता है और पाप नष्ट हो जानेपर चित्त ऐसा शुद्ध हो जाता है कि उससे भगवान्का साक्षात्कार किया जा सकता है। (क्रमशः)

# शिवसे शिक्षा

( ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज )

( प्रेषक--श्रीरामकृष्णजी मिश्र, एम्० ए०, एल्०-एल्० बी० )

भगवान् भूतभावन श्रीविश्वनाथके चरित्रोंसे प्राणियोंको नैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक आदि अनेक प्रकारकी शिक्षा मिलती है। समुद्र-मन्थनमें निकलनेवाले कालकूट विषका भगवान् शंकरने पान किया और अमृत देवताओंको दिया। राष्ट्रके नेता और समाज एवं कुटुम्बके स्वामीका यही कर्तव्य है, कि उत्तम वस्तु राष्ट्रके समाजके तथा कुटुम्बके अन्यान्य लोगोंको देना चाहिये और अपने लिये परिश्रम, त्याग तथा तरह-तरहकी कठिनाइयोंको ही रखना चाहिये। विषका भाग राष्ट्र या बच्चोंको देनेसे वैमनस्य बढ़ेगा और उससे सर्वनाश हो जायगा। शिवजीने विषको न हृदय-( पेट- )में उतारा और न उसका वमन ही किया, किंतु कण्ठमें ही रोक रखा। इसीलिये विष और कालिमा भी उनके भूषण हो गये। जो संसारके हितके लिये विषपानसे भी नहीं हिचकते, वे ही राष्ट्र या जगत्के ईश्वर हो सकते हैं।

समाज या राष्ट्रकी कटुताको पी जानेसे ही नेता राष्ट्रका कल्याण कर सकता है। परंतु उस कटुताका विष वमन करनेसे फूट और उपद्रव ही होगा। साथ ही उस विषको हृदयमें रखना भी बुरा है। अमृत-पानके लिये तो सभी उत्सुक होते हैं, परंतु विषपानके लिये शिव ही हैं; वैसे ही फल-भोगके लिये सभी तैयार रहते हैं, परंतु त्याग तथा परिश्रमको स्वीकारनेके लिये महापुरुष ही प्रस्तुत होते हैं। जैसे अमृतपानके अनुचित लोभसे देव-दानवोंका विद्वेष स्थिर हो गया, वैसे ही अनुचित फलकामनासे समाजमें विद्वेष स्थिर हो जाता है।

शिवजीका कुटुम्ब भी विचित्र ही है। अन्नपूर्णाका भण्डार सदा भरा, पर भोलेबाबा सदाके भिखारी। कार्तिकेय सदा युद्धके लिये उद्यत, पर गणपति स्वभावसे ही शान्तिप्रिय। फिर कार्तिकेयका वाहन मयूर, गणपतिका मूषक, पार्वतीका सिंह और स्वयं अपना नन्दी और उसपर आभूषण सर्पोंके। सभी एक दूसरेके शत्रु, पर गृहपतिकी छायामें सभी सुख तथा शान्तिसे रहते हैं। घरमें प्रायः विचित्र स्वभाव और रुचिके लोग रहते हैं, जिसके कारण आपसमें खटपट चलती ही रहती है। घरकी शान्तिके आदर्शकी शिक्षा भी शिवसे ही मिलती है। भगवान् शिव और अन्नपूर्णा अपने आप परम विरक्त रहकर संसारका सब ऐश्वर्य श्रीविष्णु और लक्ष्मीको अर्पित कर देते हैं। श्रीलक्ष्मी और विष्णु भी संसारके सभी कार्योंको संभालने, सुधारनेके लिये अपने आप ही अवतीर्ण होते हैं। गौरी-शंकरको कुछ भी परिश्रम न देकर आत्मानुसंधानके लिये उन्हें निष्प्रपंच रहने देते हैं। ऐसे ही कुटुम्ब और समाजके सर्वमान्य पुरुषोंको चाहिये कि योग्यतम कुटुम्बियोंके हाथ समाज और कुटुम्बका सब ऐश्वर्य दे दें और उन योग्य अधिकारियोंको चाहिये कि समाजके प्रत्येक कार्य-सम्पादनके लिये स्वयं ही अग्रसर हो, वृद्धोंको निष्प्रपंच होकर आत्मानुसन्धान करने दे।

महापार्थिवेश्वर हिमालयकी महाशक्तिरूपा पुत्रीका श्रीशिवके साथ परिणय होनेसे ही विश्वका कल्याण हो सकता है। किसी प्रकारकी भी शक्ति क्यों न हो, जबतक वह धर्मसे परिणीत—संयुक्त नहीं होती, तबतक कल्याणकारिणी नहीं होती। परंतु, आसुरी शक्ति तो तपस्या चाहती ही नहीं, फिर उसे शिव या धर्म कैसे मिलेंगे? धर्म-सम्बन्धके बिना शक्ति आसुरी होकर अवश्य ही संहारका हेतु बनेगी। प्रकृतिमाताकी यह प्रतिज्ञा है कि—

**यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।**
**यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥**

अर्थात्—संघर्षमें जो मुझे जीत लेगा, जो मेरे दर्पको चूर्ण कर देगा और जो मेरे समान या अधिक बलका होगा, वही मेरा पति होगा। यह स्पष्ट है कि रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ आदि कोई भी दैत्य, दानव-प्रकृति विजेता नहीं हुए। किंतु सब प्रकृतिसे पराजित, प्रकृतिके अंश काम, क्रोध, लोभ, मोह, दर्प आदिसे पद-पदपर भग्नमनोरथ होते रहे हैं। हाँ गुणातीत प्रकृतिपार भगवान् शिव ही प्रकृतिको जीतते हैं। तभी तो प्रकृतिमाताने उन्हें ही अपना पति बनाया। यही क्यों, कन्दर्प-विजयी शिवकी प्राप्तिके लिये तो उन्होंने घोर तपस्या भी की।

आजका संसार शुम्भ-निशुम्भकी तरह विपरीत मार्गसे प्रकृतिपर विजय चाहता है। इसीलिये प्रकृति अनेक तरहसे उसका संहार कर रही है। पार्थिव आप्य, तैजस, विविध तत्त्वोंका अन्वेषण, जल, स्थल, नभपर शासन करना, समुद्र-तलके जन्तुओंतककी शान्ति भङ्ग करना, तरह-तरहके यन्त्रोंका आविष्कार और उनसे काम लेना ही आजका प्रकृतिजय है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और उनके विकारोंपर नियन्त्रण करनेका आज कोई भी मूल्य नहीं। प्रकृति भी कोयला, लोहा, तेल आदि साधारण-से-साधारण वस्तुओंको निमित्त बनाकर उन्हीं यन्त्रोंसे उनका संहार करा रही है।

आज शिव अनार्य देवता बतलाये जा रहे हैं! किन्तु शिवकी आराधना भूल जानेसे आज राष्ट्रका भी शिव ( मङ्गल ) नहीं हो रहा है—

**जरत सकल सुरबृंद, बिषम गरल जेहिं पान किय।**
**तेहि न भजसि मनमन्द को कृपाल संकर सरिस॥'**
( मानस किष्किंधा० प्रारम्भ )

# शुभचिन्तनकी महिमा

( लेखक—स्वामी श्रीजगन्नाथानन्दजी सरस्वती )

चिन्तनका प्रभाव मनुष्यके स्थूल शरीरतक ही सीमित न रहकर सूक्ष्म शरीरपर भी पड़ता है। मनुष्यका अनिष्ट चिन्तन ही उसे विपत्तिकी रज्जुमें बाँधता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह तत्त्वोंसे निर्मित यह शरीर है। हमपर जन्मजन्मान्तरके संस्कारोंका भी प्रभाव पड़ता है। अनिष्ट चिन्तककी बुद्धि विचार करनेमें अक्षम हो जाती है। यहाँतक कि वह स्वयं भी अपने बारेमें विचार करनेमें असमर्थ हो जाता है। अपना निर्णय भी दूसरोंपर ही करवाता है। दूसरी ओर शुभचिन्तक व्यक्तिके स्थूल शरीर तथा जन्मान्तरोंके संस्कारोंतकको परिमार्जित करता है, तथा विचार करनेकी शक्ति भी प्रदान करता है। उसका निर्णय शास्त्रानुकूल होता है। कभी विफल नहीं होता है।

दुर्योधन अपने कक्षमें बैठा हुआ पाण्डवोंका अशुभ चिन्तन करता है, वह इसमें इतना निमग्न हो जाता है मानो उसकी समाधि लग जाती है। अकस्मात् उसे चेतना आती है तो सामने अपने मित्र कर्णको देखता है। कहता है कि मित्र क्या तुम मेरा प्रिय काम करोगे? दुर्योधनका मित्र भी कैसा होगा यह तो स्वयं पाठकोंको विदित हो जायगा। दोनोंका अनिष्ट चिन्तन आरम्भ हो गया। दोनोंकी बुद्धिमें पाण्डव नाचने लगे। परस्पर विचार-की चर्चा होने लगी। दुर्योधनने कहा—मित्र, अब अवसर बड़ा ही सुन्दर प्राप्त है। कर्णने कहा कि कैसा अवसर प्राप्त है? दुर्योधनने कहा—'पाण्डव इस समय भिखारी बने हुए हैं, बन-बन भटक रहे हैं। उनके शरीर दुर्बल हो गये हैं।' कर्ण बोला—कि कहनेका आपका अभिप्राय क्या है? बस अभिप्राय तो यही है कि मैं अपनी सेना सहित उन्हें जाकर देखूँ। इससे मुझे जो सुख मिलेगा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता—

**न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति।**
**प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात्॥**
( महाभारत वनपर्व० २३७। १९ )

अर्थात्—मनुष्यको पुत्र, धन, राज्यके प्राप्त होनेपर भी जो सुख नहीं होता है, जो कि शत्रुको विपद्ग्रस्तावस्थामें देखनेमें होता है।'

जब वह द्रौपदी मलिन वस्त्रोंमें अपनेको देखेगी तथा मेरी रानियोंको अलंकृत देखेगी इससे जो संताप होगा तथा इससे मेरे मनको जो सुख होगा वह तो मैं ही जान सकूँगा।

किन्तु मैं क्या करूँ, पिताजी जानेकी आज्ञा दें, तभी सुख मिल सकता है।'

अब दुर्योधनके मित्रोंकी चौकड़ी धृतराष्ट्रके पास पहुँची। यद्यपि धृतराष्ट्रने उन्हें मना किया, तथापि उन्होंने झूठ-साँच समझाकर 'हाँ' करवा लिया। तदनन्तर चतुरङ्गिणी सेनाके साथ वे चल पड़े। किन्तु भगवान्के भक्तोंका कभी अपमान नहीं होता है। प्रभुने इन्द्रके मनमें प्रेरणा दी, तुम शीघ्र ही पाण्डवोंकी रक्षा करो। 'उरप्रेरक रघुबंश बिभूषण'।

जैसे ही कौरवोंने द्वैत वनमें प्रवेश किया, गन्धर्वोंने तुरंत उनका मार्ग रोक दिया तथा बहुत समझाया कि आप लोग यहाँसे लौट जाओ। किन्तु मदान्ध व्यक्ति अपनी हितकी बात सुनना नहीं चाहता है। घोर युद्ध छिड़ गया। कर्ण भाग गया तथा दुर्योधनको भाइयोंसहित एवं स्त्रियोंके सहित गन्धर्वोंके राजा चित्रसेनने बाँध लिया। और, इन्द्रके पास ले चला। उसी समय उसके कुछ सैनिकोंने पाण्डवोंके पास पहुँचकर कहा कि हम आपकी शरण हैं, आपके भ्राता दुर्योधनको नारियोंसहित गन्धर्व पकड़कर ले जा रहे हैं। उस समय राजा युधिष्ठिर यज्ञवनमें ब्राह्मणोंद्वारा अनुष्ठान करा रहे थे। धर्मराजका हृदय करुणासे व्यथित हो गया। उन्होंने अपने चारों भ्राताओंको शीघ्र ही आज्ञा दी कि जल्द ही अपने शरणार्थीको छुड़ाओ। यही हमारा धर्म है—

**शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च।**
**उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥**
( महाभा० ३। २४३। ६ )

'पुरुषसिंहो! शरणागतकी रक्षाके लिये, वंशकी रक्षाके लिये शीघ्र उठो, विलम्ब मत करो' पर भीम कुछ आना-कानी करने लगे, तब उन्होंने समझाया—

**वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डवाः।**
**शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम्॥**
( महाभा० ३। २४३। ३ )

'देवतासे वरदान प्राप्त करना, राज्य पाना, पुत्रका जन्म होना और शत्रुको किसी दुःखसे छुड़ाना—इन चारोंमें अंतिम कार्य प्रथम तीनोंके बराबर है।' आजकलका अन्तःकरण होता तो शत्रुके विपत्तिमें पड़ जानेपर न जाने उसे कितनी प्रसन्नता होती, किन्तु यहाँ तो धर्मराजका अन्तःकरण है। चारों भ्राता दौड़ पड़े। गन्धर्वोंसे घनघोर युद्ध छिड़ गया। परस्पर भयंकर द्वन्द्व युद्ध हुआ; किन्तु अन्तमें चित्रसेन 'मैं आपका मित्र हूँ' कहता हुआ सामने प्रकट हो गया। तुरन्त अर्जुनने अपने अमोघ बाणोंको लौटा लिया। दोनों मित्र परस्पर मिले। दुर्योधन तथा उनकी पत्नियाँ पासमें बद्ध थीं। उन्होंने इस सबको देखा।

अर्जुनने हँसते हुए कहा कि मित्र यह कार्य आपने क्यों किया? ये तो मेरे भ्राता हैं, राजा हैं, चित्रसेनने कहा कि प्रिय मित्र! यह दुर्योधन आपकी विपत्ति देखने तथा द्रौपदीकी हँसी उड़ाने आ रहा था। तुम्हारे पिता इन्द्रने मुझे यह कहकर भेजा है कि 'इसे पकड़कर मेरे पास ले आओ।' अर्जुनने कहा—'मित्र छोड़ दो, छोड़ दो मेरा भ्राता मेरे सामने बँधा हुआ अच्छा नहीं लगता'—

**'उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः।'**
( महाभा० ३। २४६। ९ )

चित्रसेनने कहा कि मित्र यह बड़ा पापी है, इसका अपराध क्षमा नहीं किया जा सकता है। हाँ

धर्मराजके पास इसे अर्पित कर देते हैं, वे चाहें जो करें।

वहाँ तो दुर्योधन उनकी विपत्ति देखने तथा अपना ऐश्वर्य दिखाने आया था और वहाँ भाइयोंसहित अपने नारियोंके साथ पासमें बँधा धर्मराजके चरणोंमें अर्पित कर दिया जाता है! धन्य है, धर्मराजका चित्त! उन्होंने तुरन्त पाशोंसे खुलवाया तथा मीठे वचनोंसे सान्त्वना दी। उस समय दुर्योधन मारे लज्जासे पृथ्वीमें समा जाना चाहता था, किंतु माता पृथ्वी भी पापियोंको अपने हृदयमें स्थान नहीं देती हैं—

**भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः।**

(महाभा० ३। २४९। ५)

उनकी पत्नियोंने द्रौपदीके तेजको देखा तो सबका मुख नीचा हो गया। भीम तो हँसने लगे, किन्तु धर्मराजके भयसे कुछ कहा नहीं।

धर्मराजने कहा—'जाओ तुम्हारा मङ्गल हो।' यह कह कर विदा किया।

समस्त महाभारत हो गया था, केवल यही दुर्योधन बचा उस समय यह अपनी माँके पास पहुँचा तो इसने अपनी सब चर्चा कर डाली। तब माँने कहा—'तुम इस समय धर्मराजके पास जाओ, वे ही तुमको सत्यमार्ग बतावेंगे।' आश्चर्य! दुर्योधन चल पड़ा, उसे विश्वास है कि पाण्डव सत्य बोलते हैं। शत्रु भी विश्वास करे, यही तो धर्मका वास्तविक प्रभाव है। वह पाण्डवोंके पास पहुँचा तो उन्होंने स्वागत करते हुए कहा कि आपका क्या प्रिय कर्म करें। तब उसने कहा कि मैं आपलोगोंको किस प्रकार जीत सकूँगा? वह कौन-सा उपाय है? तब बिना किसी छल-छद्मके धर्मराजने कहा कि तुम अपनी माँके सामने नग्न होकर खड़े हो जाओ। तुम्हारा शरीर वज्रका हो जायगा। तब तुम हमको जीत लोगे। भक्तको ईश्वरपर दृढ़ विश्वास होता है, वह जानता है कि जहाँ धर्म है वहीं विजय है—**'यतो धर्मस्ततो जयः'**। दुर्योधन अत्यन्त हर्षोल्लासके साथ चल पड़ा, किन्तु भगवान्की मायाको कोई पार नहीं पा सकता है। उन्होंने मार्गमें ही विघ्न कर दिया तथा दुर्योधनको यह समझा दिया कि माँके समक्ष पूर्ण नग्न होकर कैसे जाओगे? यह तो मर्यादाके विरुद्ध है। परिणामस्वरूप दुर्योधनने अपने शरीरके कुछ अंशको वल्कलादिसे ढक लिया, जिसके कारण उतना अंश वज्रके समान कठोर नहीं बन सका और अन्ततोगत्वा दुर्योधनको भी कालके गालमें जाना पड़ा।

कहनेका अभिप्राय यह कि हम जिसका अनिष्ट चिन्तन करते हैं उसका तो अनिष्ट होगा या नहीं यह तो उसके प्रारब्धपर निर्भर करता है, पर अनिष्ट-चिन्तन करनेवालेका तो उसी समयसे अनिष्ट आरम्भ हो जाता है। शक्तियोंमें ह्रास होना शुरू हो जाता है। अतः शुभ चाहनेवालेका कर्त्तव्य है कि **मनसा शिवमाचरेत्** अर्थात् प्राणिमात्रका मनसे शुभ चिन्तन करे। भक्तशिरोमणि प्रह्लादके शब्दोंमें प्रति व्यक्ति यही कामना करे—

**'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।'** (भागवत ५। १८। ९)

—'सम्पूर्ण विश्वका मंगल हो, दुष्ट भी प्रसन्न रहे, समस्त प्राणी परस्पर एक-दूसरेकी मंगलकामना किया करे।' यही गौरवमयी भारतीय संस्कृतिकी विश्वको देन है कि वह दुष्टका भी हित-विधान करती है। भगवान् रामने रावण-जैसे दुष्टके संदर्भमें अंगदसे कहा है कि **'काज हमार तासु हित होई'**—इस प्रकार शुभ-चिन्तक श्रीराम दुष्टका भी हित चाहते हैं। निष्कर्ष यह कि शुभ-भावनासे शुभ-चिन्तन करना उदात्त कर्त्तव्य है जिसका शुभ परिणाम जीवनको मङ्गलमय बना देता है।

# अल्पमें सुख नहीं है

( नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )

**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'**

( छा० ७ । २३ । १ )

श्रुति कहती है—'अल्पमें सुख नहीं है, जो भूमा—महान् निरतिशय है, वही सुख है ।' इसीलिये जीव चिरकालसे सुखकी खोजमें भटकता है, परंतु कहीं तृप्त नहीं होता । हो भी कैसे ! उसने अभीतक अल्पमें ही चक्कर काटे हैं, पूर्णके दरवाजेपर पहुँचे तब न उसको सुखकी झाँकी नसीब हो, अबतक तो उसने जिस-जिस चीजको सुखका साधन समझकर अपनाया, वह-वह अन्तमें दुःखदायी ही साबित हुई; इसीसे यह अशान्त हुआ है, और जहाँ-तहाँ कराहता, कलपता, बिलखता दौड़ रहा है तथा बार-बार ठोकरें खा-खाकर गिरता और क्लेश सहता है ।

यह बात नहीं कि जीव पूर्णके दरवाजेतक पहुँचनेका अधिकारी नहीं है, वह सच्चा अधिकारी है; परंतु उसने भ्रमसे पूर्णको भूलकर—अपूर्णको और नित्यको भूलकर अनित्यको पूर्ण और नित्य तथा असत् और दुःखमयको ही सत् और सुखरूप मान लिया है । इसीसे वह इन्हींमें प्रीतिकर, इन्हींमें रमकर बार-बार मृत्युकी क्लेशकारिणी कराल मूर्तिको देख-देखकर काँपता और रोता है; तो भी इन्हें छोड़ना नहीं चाहता ! यही उसका अज्ञान है, यही अविद्याका जाल है जिसमें फँसकर उसने अपने स्वरूप और अधिकारको भुला ही दिया है ।

इसी अविद्याके जालको काटनेकी आवश्यकता है । वेद-शास्त्र, सन्त-महात्मा इसीके लिये कठोर साधन करना बतलाते हैं । इसीके लिये साधक शास्त्र और सन्तोंके सङ्गको तभी सफल हुआ समझना चाहिये जब यह अविद्याका जाल कट जाय, अज्ञानका अन्धकार नष्ट हो जाय । यह अज्ञान ही हमारा परम शत्रु है, जिसने हमें एक होते हुए भी अपने स्वरूप परमात्मासे विलग कर रखा है, मिथ्यामें सत्ता और मोह उत्पन्न कराके हमें संसृतिके प्रवाहमें डाल रखा है । जैसे अन्धकारका नाश प्रकाशसे होता है, अमावस्याकी घोर काली निशा अरुणोदयकी लालिमाको देखते ही सकुचाकर दुबक जाती है—अपनेको छिपाने लगती है और सूर्यका प्रकाश होते-होते सर्वथा नष्ट ही हो जाती है, वैसे ही यह अज्ञान-तम भी ज्ञानकी विमल और प्रखर ज्योतिसे ही नष्ट होता है । ज्ञानके बिना अज्ञानका नाश कभी सम्भव नहीं, इसीलिये मनुष्य-जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कर्तव्य ज्ञानको—तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त करना है, जिसके मिलते ही सारे दुःखक्लेश सदाके लिये शान्त हो जाते हैं । यह ज्ञान ही भगवत्कृपासे प्रेमके रूपमें परिणत होकर बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, तनमें-मनमें, वाणीमें-बुद्धिमें, बैठनेमें-चलनेमें, सोनेमें-जागनेमें, दृष्टिमें-अदृष्टिमें केवल एक दिव्य सत्य चेतन आनन्द भर देता है । फिर सब ओर, सर्वदा, सबमें एक दिव्य परमात्म-सत्ता ही छा जाती है, छायी तो वह अब भी है, परंतु अब अज्ञानावृत जीव उसे प्रत्यक्ष नहीं करता, उसका अनुभव नहीं करता, पर जब ज्ञानालोकसे अज्ञानान्धकार मिट जाता है, जब जीव और शिवकी एकता हो जाती है, तब फिर जो कुछ रह जाता है, बस वही पूर्ण **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** है । वह दिशा, काल, मान आदिमें सर्वत्र व्याप्त है । यही नहीं, दिशा, काल, मान आदि सब उसीमें कल्पित हैं, वह एक है, अनुपम है, अपरिमेय है, अनादि है, आदि है, अनन्त है, नित्य है, सत्य है, ज्ञान है, प्रेम है, परमानन्द है, परम रसरूप है, अटल है, असीम है,

अज है, अकल है, अगम्य है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, अनिर्वचनीय है, इसीलिये श्रुतियोंने **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** आदि कहकर भी उसे **'नेति नेति'** कहा है; क्योंकि किसी भी शब्दसे, किसी भी बुद्धि-वृत्तिसे, उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसको बतलानेके लिये जितने नाम, भाव और उदाहरण हैं, वे सभी अपूर्ण हैं और वस्तुतः उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकते; परंतु उसका कुछ बाहरी भाव, उसकी छाया समझमें आ जाय, इसीलिये 'शाखाचन्द्र-न्याय'से इन शब्दोंकी कल्पना की गयी है। शब्द भी तो वही है, आरम्भमें वह शब्द ही बनकर सृष्टिका सूत्रपात करता है। इसलिये शब्दमेंसे होकर ही हम उसके स्वरूपतक पहुँच सकते हैं; इसीसे 'शब्द-ब्रह्म' की इतनी महिमा है।

उस चरम स्थितिकी प्राप्ति जिस तत्त्वज्ञानसे होती है, जो इस चरम स्थितिका पर्याय ही है, वह हमें कैसे मिल सकता है! इसके लिये अल्पसे वृत्ति हटाकर उसको अनन्त और असीममें लगाना होगा—मनमें महत्त्वाकाङ्क्षा उत्पन्न करनी पड़ेगी। यह महदाकाङ्क्षा ही वेदान्तकी 'मुमुक्षुता' है। बिना अनन्य मुमुक्षुत्वके मुक्ति नहीं मिलती, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

जबतक हम प्राणाधार मनमोहनको सर्वोपरि सुख, प्रेम और कल्याणका अथाह असीम समुद्र मानकर उसको प्राप्त करनेकी एकमात्र इच्छापर लोक-परलोककी सारी सुखेच्छाओंको न्योछावर नहीं कर सकते, जबतक हम उस प्यारे-दुलारे साँवरेके प्यारे अरुणारे कदमोंपर इस लोक और परलोकका सारा सुख और ऐश्वर्य लुटा नहीं देते, जबतक हम उस प्राण-प्रियतमकी चरण-धूलि-लाभ करनेके लिये सबका मोह छोड़कर विरहकातर प्राणोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए यमुना-कूलमें कदम्ब-वृक्षकी ओर पागल होकर नहीं दौड़ते, जबतक हमारे मनकी एक-एक वृत्ति हमारी चित्त-सरिताकी एक-एक तरङ्ग उछलती-कूदती सर्वप्रकारके बन्धन-प्रतिबन्धनोंके पहाड़ों और पर्वतोंको पददलित करती, तोड़ती और लाँघती हुई उस असीम-आनन्द-समुद्र श्याम-सुन्दरमें मिलकर एकत्वको प्राप्त करनेके लिये एक तारसे, एक चालसे, अनन्यभावसे और तीव्र गतिसे बहना शुरू नहीं करती, तबतक हमें वह मोहन कैसे मिल सकता है! तबतक कैसे हम दावेके साथ कह सकते हैं कि हम पुकारते हैं पर वह बोलता नहीं, हम बुलाते हैं पर वह आता नहीं, हम चाहते हैं पर वह चाहता नहीं। जिस दिन उसकी प्यारी चाह जगत्की और सारी चाहोंको खा बैठेगी, जिस दिन हमारे प्राण व्याकुलतासे उसे पुकार उठेंगे, उस दिन हमसे बोले बिना, मिले बिना, हमें हृदयसे लगाये बिना उससे नहीं रहा जायगा। सच बात तो यह है कि वह तो हमसे मिलना चाहता है, परंतु हमें ही उसकी परवा नहीं है। उस प्यारे दिलदार मोहनकी माधुरी छविके सामने जगत्की कौन-सी चीज है जो हमें अभिसारसे अटकाकर रख सकती है? उस रूपकी छटाका भान हो जानेपर तो तन-मन-धन और लोक-परलोक सब आप ही उसपर लुट पड़ता है। ऐसी कोई चीज ही नहीं रह जाती है जो उसके चरण-रज-कणकी कीमतमें न दी जा सके! सब कुछ देकर भी वह मिल जाय तो भी उसे सस्तेमें ही मिला समझो। प्रियतमके दीदार-दीवाने कबीर साहब पुकारते हैं—

इस तनका दिवला करौं बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

फिर उसे दूसरी चीज भाती ही नहीं, उसके मन और कोई बात समाती ही नहीं, उसके नेत्रोंमें और कोई छवि आती ही नहीं—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिरि जाय॥

दूसरा कहता है—

तुझे देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें।
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे हम देखें॥

सन्त श्रीदादूजी महाराज ऐसे विरहीकी दशाका वर्णन करते हैं—

जिस घट इश्क अलाहका तिस घट लेहि न माँस।
दादू जियमें जक नहीं, सिसकै साँसों-साँस॥
दादू इश्क अलाहका जे प्रगटै मन आय।
तो तन-मन दिल अरवाहका सब परदा जलि जाय॥
जहँ विरहा तहँ और क्या जप-तप साधन योग।
दादू विरहा ले रहे, छाँड़ि सकल रस-भोग॥
दादू तड़फे पीड़ सों विरही जन तेरा।
सिसकै साँई कारणै मिलु साहेब मेरा॥
जिस घट विरहा रामका उस नींद न आवै।
दादू तड़फै विरहनी, उस पीड़ जगावै॥
विरह-वियोग न सहि सकौं मोपैं सह्यो न जाय।
कोई कहौ मेरे पीवकौं दरस दिखावै आय॥
विरह-वियोग न सहि सकौं, निसि दिन सालै मोहिं।
कोई कहौ मेरे पीवकौं कब मुख देखौं तोहिं॥
विरह-वियोग न सहि सकौं तन-मन धरै न धीर।
कोई कहौ मेरे पीवकौं मेटै मेरी पीर॥

इस विरहकी दशामें जब प्राण-प्रिय तान-तानकर हृदयमें बाण मारता है, तब तो कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अन्तमें होता यह है कि बाण मारनेवाला ही रह जाता है, जिसको बाण लगता है उसकी अलग हस्ती ही मिट जाती है। इसी दृश्यकी चाहना करते हुए महात्मा दादू पुकारते हैं—

दादू मारै प्रेम सौं बेधै साधु सुजाण।
मारणहारे कौं मिलै, दादू विरही-बाण॥
मारणहारा रहि गया, जेहि लागे सो नाहिं।
कबहूँ सो दिन होयगो, यह मेरे मन माहिं॥

विरह-बाण लगनेपर 'वह दिन' आते देर नहीं लगती, जब भक्त उस प्राणाधार विश्वाधार विश्वात्मा मुरलीमनोहरको जानकर, देखकर और उसके हृदयमें छिपकर कृतार्थ हो जाता है। बस, यह विरह-ताप—यह अनन्य प्रेम ही उस पूर्ण प्रियतमके मिलनेका सर्वोत्तम साधन है। स्वयं श्यामसुन्दर कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११।५४)

'शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष दर्शन दे सकता हूँ और भक्तका मुझमें प्रवेश हो सकता है।'

बस, यह प्रभु-मिलन ही पूर्णकी प्राप्ति है, यही सुखकी पराकाष्ठा है। अल्पको छोड़कर इसी महान्—पूर्णके लिये, पूर्ण प्रयत्न करना मनुष्यमात्रका परम धर्म है। स्मरण रहे—**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।'**

## दो प्रभु! भक्ति, शान्ति-सुख आवे

(रचयिता—श्रीकेशवदेवजी शास्त्री 'केशव')

जय जगदीश दयानिधि माधव, जय जय असुरारी।
प्रणतपाल सर्वेश्वर केशव, जय जय गतिकारी॥

× × ×

व्यापक ब्रह्म चराचर विभु तुम, तुम अन्तर्यामी।
शाश्वत नित्य अनादि निरामय, तुम अनन्त स्वामी॥
निराकार साकार ज्योतिमय, तुम व्यापक पाये।
जड़-चेतन सबमें प्रभु तुम हो, तुमसे सब आये॥
सत्-चित्-आनँद-सुख-स्वरूपमय ,
तुम प्रज्ञाधारी! जय जगदीश···॥
तुम निर्माता सकल विश्वके, तुम पालन-कर्ता।
तुम संहारक, संरक्षक तुम, प्राणिव्यथा-हर्ता॥
तुम ही माता पिता बन्धु तुम, सखा-सुहृद जन हो।
तुम ही विद्या, विभव, बोध, यश, सद्गुण अरु धन हो॥
माया-मोहन तुम गिरिधारी, तुम शारँगधारी।
जय जगदीश···॥

*

# उद्धव-संदेश

( लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० )
( अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल )

( ५ )

उद्धवने जब मथुरासे व्रजके लिये प्रस्थान किया था तो उन्होंने अपने मनमें नन्दराजके सम्बन्धमें कुछ धारणाएँ बना ली थीं । 'जिनकी चर्चा करते समय श्रीकृष्ण-जैसे व्यक्ति भी इतने विह्वल हो जाते हैं, न जानें उनके मनमें कृष्ण-प्रीति कितनी गहरी होगी ।' किंतु नन्दराजकी अवस्थाको प्रत्यक्ष देखनेपर उद्धवको लगा कि नन्दराजका वात्सल्य उनके अनुमानसे भी कोटिगुणा अधिक है ।

उद्धव चिन्ताके गहरे समुद्रमें डूब गये । उन्हें समझ नहीं पड़ रहा था कि वे नन्दरायको सान्त्वना किस प्रकार दें । इस संसारमें कोई दुःखसे रो रहा हो तो प्रबोधदाताका पहला कर्तव्य होता है—उसे सान्त्वना देकर चुप कराना । पर उद्धव प्रवीण, शास्त्रज्ञ, पण्डित और भक्त व्यक्ति हैं । वे भलीभाँति जानते हैं कि जीवके जीवनकी चरम सार्थकता है—भगवद्-भावका लाभ और भगवान्‌की अन्तरङ्ग भावसे प्राप्ति तो हृदयकी आर्ति और व्याकुलता-द्वारा ही हो सकती है । इस संसारमें जीव-समूह सर्वदा धन-जन-सुख-ऐश्वर्यके लिये ही लालायित है, कोई-कोई स्वर्ग-मोक्षके लिये भी व्याकुल हैं । कृष्णके लिये व्याकुल मनुष्य प्रायः सुदुर्लभ ही हैं । कृष्ण-हेतु तीव्र व्याकुलता-लाभ ही मनुष्य-जीवनकी चरमतम साधकता है । उद्धव प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि नन्दराजने जीवनकी परम सफलताकी प्राप्ति कर ली है । उनकी दशा देखकर तो उद्धवके भी हृदयमें यही साध जग रही है कि उन्हें भी कृष्णके लिये ऐसी ही व्याकुलता प्राप्त हो । उनको तो शंका हो रही है कि करोड़ों जन्मोंकी महासाधनाके पश्चात् भी क्या उनके हृदयमें कृष्णके लिये इस प्रकार आर्ति उत्पन्न हो सकेगी ? कृष्णके लिये इस प्रकारकी अश्रुवर्षा तो उद्धवके शास्त्र-शुष्क-भावित कठोर हृदयमें कथमपि सम्भव नहीं होगी । अतः नन्दरायको रोकना तो दूर, उल्टे उद्धवकी प्रबल इच्छा हो रही है कि सब कुछ त्यागकर तपस्याद्वारा नन्दराज-सदृश प्रेमपरिपूर्ण कोमल हृदय प्राप्त किया जाय ।

उद्धव कहना चाहते थे—'नन्दराज ! इसी प्रकार और विलाप करते रहिये ! युग-युगोंतक और अधिक आर्त होकर 'हा कृष्ण' ! पुकारते-पुकारते इसी प्रकार अश्रुविसर्जन करते रहिये ! किंतु हाय ! यह भी तो कोई सान्त्वनाकी भाषा नहीं है । जो पहले ही अत्यन्त व्याकुल है, उसे और अधिक व्याकुल होनेको कहना क्या प्रबोधदाताको शोभा देता है ? जिसको सान्त्वना वाक्य कहनेसे तो हो जाता हो; शास्त्र-विरुद्ध और शास्त्रीय वाक्य कहनेसे हो जाता हो; प्रबोधदाताके पक्षमें अशोभन कार्य, उसको कौन क्या कहे ? शास्त्र-प्रवीण उद्धवके पक्षमें नन्दराजका प्रबोधदाता होना केवल कठिन कार्य ही नहीं पूर्णतः असम्भव व्यापार हो गया ।

कोई व्यक्ति यदि कातर होता है तो उसे सान्त्वना देकर शान्त करने-हेतु आनेवाले सज्जनका दूसरा कर्तव्य होता है—उस कातर व्यक्तिके मनको विषयान्तरमें आकृष्ट करना । जिस विषय-हेतु वह व्यक्ति व्यथित है, उसके मनको अन्य विषयमें लगा पानेपर व्यथित व्यक्तिकी व्यथा हल्की पड़ सकती है । उद्धव यदि ऐसा करें तो उन्हें नन्दराजको यह कहना होगा कि आप अपने मनसे कृष्ण-चिन्तन त्यागकर उसे अन्यत्र लगानेकी चेष्टा करिये । पर उद्धव ऐसा नहीं कर सकते; कारण वे जानते हैं कि जगत्‌के सभी विषयोंका परित्यागकर, यहाँ-तक कि **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** एकमात्र कृष्णस्मरण

करनेसे ही जीवको परम श्रेयकी प्राप्ति होगी। जिसका मन पहले ही कृष्णमें निविष्ट है, उसे अपना मन कृष्णसे अन्यत्र निविष्ट करनेकी चेष्टा करनेके लिये कहना, केवल अन्याय ही नहीं, सर्वतोभावसे पापकार्य भी होगा। पुण्य और पवित्रताकी मूर्ति उद्धव क्या ऐसा पाप-कार्य करेंगे और वह भी व्रजमें आकर नन्दबाबाके सम्मुख बैठकर? उद्धवको लग रहा है कि नन्दबाबाको सान्त्वना देनेकी चेष्टा करना विडम्बनामात्र है।

कोई यदि अपने पुत्र-विरहसे दुःखी होकर विलाप कर रहा हो तो उसे प्रबोध देने आये हुए सज्जनका तृतीय कर्तव्य होता है उस दुःखी व्यक्तिका मन मायिक वस्तुसे हटाकर अमायिक वस्तुमें लगा देना। उसे कहना होगा—'तुम मायामय पुत्रके लिये शोक क्यों कर रहे हो? इस जगत्में कौन किसका है? सभी सम्बन्ध मिथ्या और क्षण-स्थायी हैं। रास्ते चलते दो पथिकोंमें जिस प्रकार क्षणिक परिचय हो जाता है, उसी प्रकारका परिचय इस मायामय जगत्में माता-पिता, पुत्र आदिका है। इस जन्ममें तुम किसीके पुत्र या पिता बने हो, अपने पूर्वमें और पर जन्मोंमें अन्य किसीके पुत्र व पिता होंगे। तुम्हारा पुत्र पूर्व जन्ममें और किसीका पुत्र बना था, इस जन्ममें तुम्हारा पुत्र बना है, आगामी जन्ममें फिर कहाँ जाकर न जाने किसका पुत्र बनेगा! अतएव इस नश्वर सम्बन्धसे स्नेहाकृष्ट न होकर, इन क्षणिक सम्पर्कोंकी बात भूलकर नित्य-घन भगवान्के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करो। वह सम्बन्ध न कभी नाश-प्राप्त होगा, न कभी वियोगजनित दुर्विषह ताप भोगना पड़ेगा। इसलिये पुत्रके लिये न रोकर रात-दिन यदि कृष्णके लिये क्रन्दन कर सको तो तुम्हारा अत्यन्त कल्याण होगा।

किंतु आज नन्दराज तो उद्धवके सम्मुख बैठे हुए श्रीकृष्णके निमित्त ही अविश्रान्त अश्रुपात कर रहे हैं। जिनका पुत्र ही भगवान् है और उसके लिये ही जो अत्यन्त व्याकुल होकर रो रहे हैं, उन्हें उद्धव क्या उपदेश दें? नन्दराजको यह कहना कि 'आप पुत्रके विषयमें भूल जाइये' उद्धवके लिये विषम पाप और असाधु-जनोचित व्यवहार होगा। श्रीकृष्णको स्मरण करनेके लिये कहना ही साधु-पुरुषोंका कर्तव्य है। साधुश्रेष्ठ उद्धव नन्दराजको किस मुखसे कहें कि पुत्रके विषयमें भूल जाइये।

यदि उद्धव कहें कि 'नन्दरायजी! आप श्रीभगवान्का ही स्मरण कीजिये' तो नन्दराज जो अभी भी कर रहे हैं, वैसा ही और विशेषरूपसे करनेके लिये ही कहना हुआ। उद्धव जानते हैं, श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। एकमात्र उनके साथ सम्बन्ध ही नित्य शाश्वत सम्बन्ध है। अतएव नन्दराजको भगवत्-स्मरणके लिये कहना और अपने पुत्रके लिये अधिक व्याकुल होनेके लिये कहना, एक ही बात हुई। किंतु यह तो प्रबोधदाताकी भाषा नहीं है। उद्धव अपने हृदयके अन्तःस्थलमें भली-भाँति अनुभव कर रहे हैं कि नन्दराजको सान्त्वना देने योग्य भाषा देवी सरस्वतीके भण्डारमें भी विद्यमान नहीं है।

उद्धव समझ रहे हैं कि जिस कार्यके लिये उन्हें भेजा गया है, वह सम्पन्न कर पाना नितान्त असम्भव है। ऐसी भाषा या वाणी उद्धवको खोजे नहीं मिल रही है, जिसके सहारे वे अपना मुँह खोल सकें। बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य, बुद्धिसत्तम उद्धव नन्दराजके अश्रुसिक्त मुखकी तरफ पूर्णतः मौन होकर इस प्रकार निहारने लगे—मानो उनके सम्मुख साक्षात् व्यथा शरीर-धारण किये बैठी हो। उद्धव नन्दराजके महान् भाग्य और अपनी अक्षमताके विषयमें विचारने लगे। वे अन्तर्द्वन्द्वोंमें खो-से गये थे।

# अहंकार कैसे मिटे ?

( परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक प्रवचन )

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है—यह मान्यता रखना ही खास भूल है। मूल भूल है कि 'मैं शरीर हूँ।' आप इसपर जरा विचार करो—शरीर मिला है। मिली हुई चीज अपनी नहीं होती। अपनी चीज सदैव अपनी ही रहती है, कभी बिछुड़ती नहीं, पहलेसे अन्ततक अपनी ही रहेगी और जो मिली है, वह छूट जाती है, सदैव साथ नहीं रहती। ऐसी मिली हुई वस्तु 'मेरी' कैसे हुई ?

स्वयं पहले था और स्वयं पीछे रहेगा। बीचमें शरीर मिला तो यह स्वयं शरीर कैसे हुआ ?

**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**
**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥**
( गीता १३ । १ )

**'इदंता'** से दीखनेवाले शरीरको क्षेत्र कहा है। इसको जाननेवालेको इसी श्लोकमें **'क्षेत्रज्ञ'** कहा है। इस वर्णनसे यह स्पष्ट है कि क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र दो चीजें हैं। जैसे, मैं खम्भेको जानता हूँ, तो खम्भा जाननेमें आनेवाली चीज हुई और मैं खम्भेको जाननेवाला हुआ। जाननेवाला, जाननेमें आनेवाली वस्तुसे भिन्न होता है—यह नियम है। मैं शरीरको जानता हूँ, इससे स्पष्ट हुआ कि शरीर मुझसे अलग है। हम यही कहते हैं—यह मेरा पेट है, यह मेरा पैर है, यह मेरी गर्दन है, यह मेरा मस्तिष्क है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है। अपनेसे अलगको ही 'मेरा' कहा जाता है। अतः ये सबसे अलग हैं। वास्तवमें विचारा जाय तो **'अहम्'** यानी 'मैं' पन भी **'इदम्'** ही है; क्योंकि जिस प्रकाशमें संसार दिखायी देता है; उसी प्रकाशमें **'अहम्'** भी दिखायी देता है। जिस प्रकाशमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण इदंतासे दिखायी देते हैं, उसी सामान्य प्रकाशमें अहं भी इदंतासे दिखायी देता है। दीखनेवाला अपना स्वरूप कैसे हुआ ? वास्तवमें **'अहम्'** भी अपना स्वरूप नहीं है।

मैं शरीर नहीं हूँ—इस बातको दृढ़तासे मान लो। मैं न कभी शरीर था, न कभी शरीर हो सकता हूँ, न शरीर रहूँगा और न अभी वर्तमानमें मैं शरीर हूँ। मैं इससे बिल्कुल अलग हूँ। इसकी पहचान क्या है कि मैं शरीरसे अलग हूँ ? यदि शरीरसे मेरी एकता होती तो चाहे तो मरनेपर शरीर मेरे साथ चलता अथवा शरीरके साथ मैं भी रहता। पर न तो मैं शरीरके साथ रहता हूँ और न शरीर मेरे साथ जाता है। इस परिस्थितिमें शरीरके साथ मेरी एकता कैसे हुई ? अर्थात् मैं शरीर कैसे हुआ ?

मकान और मैं अलग-अलग हूँ। मकानसे मैं बाहर चला जाता हूँ तो मकान मेरे साथ नहीं जाता। मकान यहीं रहता है, मैं बाहर चला जाता हूँ तो इससे सिद्ध हुआ कि मैं मकानके साथ नहीं रहता यानी मैं और मकान—ये दो **हैं,** एक नहीं। इसी प्रकार शरीर और मैं—ये दो **हैं** एक नहीं। ऐसा ठीक बोध होनेपर अहंकार मिट जाता है और अहंकार मिटनेपर मैं और शरीर—ये दोनों अलग-अलग दिखायी देते हैं।

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—ये तीन खास भूलें हैं। न तो मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा ही है और न शरीर मेरे लिये ही है। मेरे लिये शरीर हो ही नहीं सकता; क्योंकि मैं नित्य-निरन्तर रहनेवाला और यह नित्य-निरन्तर बदलनेवाला है। यह

शरीर बदल रहा है, जा रहा है, वियुक्त हो रहा है प्रतिक्षण; यह मेरे लिये कैसे हो सकता है? कोई एक भी क्षण ऐसा नहीं है, जिस क्षणमें यह शरीर वियुक्त न होता हो।

मनुष्य मानता है कि जब शरीर मर जाता है, तब शरीरका वियोग होता है; इसलिये जन्मसे मृत्युतक हमारा रहा। यह बहुत स्थूल बुद्धिसे मान्यता है। बारीकीसे देखा जाय तो शरीर जो सौ वर्षतक रहनेवाला है, वह एक वर्षका बालक हो गया तो अब ९९ वर्ष ही रहनेवाला रहा। दृष्टि होती है कि बालक बढ़ रहा है, यह बात बिल्कुल गलत है। बालक तो प्रतिक्षण मर रहा है। अपने भी सोचते हैं कि हम बढ़ रहे हैं, हम जी रहे हैं। यह बिल्कुल झूठी बात है। सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं, प्रतिक्षण मर रहे हैं! हम मानते हैं कि मरनेके बाद शरीरसे वियोग हो जाता है, पर वास्तवमें वियोग प्रतिक्षण हो रहा है, तो हरदम वियुक्त होनेवाला शरीर हमारे लिये कैसे हो सकता है? हमारा कैसे हो सकता है? और हम उसके कैसे हो सकते हैं?

अब विचार करें कि क्या मेरा पूरा आधिपत्य शरीरपर चलता है? अगर चलता है तो इसको हम बीमार न होने दें, कमजोर न होने दें और कम-से-कम मरने तो मत ही दें। पर हमारा आधिपत्य इसपर नहीं चलता। फिर शरीर हमारा कैसे हुआ?

बालकपनमें जो मैं था, वही अब भी हूँ। अपना होनापन निरन्तर वैसा-का-वैसा दीखता है पर शरीर बदलता है। बदलनेवाला शरीर 'मैं' कैसे हुआ? मैं नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शरीर नित्य-निरन्तर ही बदलनेवाला। वह शरीर मेरे लिये कैसे हुआ? मेरे लिये तो वही हो सकता है, जो सदैव मेरे साथ रहे और मेरे काम आ जाय। पर यह मेरे साथ रहता नहीं, तो यह मेरे लिये कैसे हुआ?

शरीरकी संसारके साथ एकता है।—

**'छिति जल पावक गगन समीरा।'**—जिन पाँच तत्त्वोंसे यह संसार बना है, उन्हीं पाँच तत्त्वोंसे यह शरीर बना है। शरीर और संसारकी एक जाति है। यह शरीर संसारका एक अङ्ग है। शरीर हमको मिला है संसारकी सेवाके लिये तो अपने लिये शरीर कैसे हुआ? शरीर हमको क्या निहाल करेगा? हम शरीरको अपना तथा अपने लिये न मानकर संसारका मानकर संसारकी सेवामें लगा दें। इस प्रकार संसारकी वस्तु संसारके काममें लगा दें तो इससे हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा, इससे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा अर्थात् शरीरसे 'मैं-पन' मिट जायगा।

आप एक शङ्का कर सकते हैं कि इस शरीरसे हम भगवन्नामजप करते हैं, इससे ध्यान लगाते हैं, चिन्तन करते हैं, इससे सेवा करते हैं तो यह शरीर किसके काम आया? यानी हमारे ही तो काम आया? हम जप, ध्यान करते हैं, तो भगवान्की प्राप्ति होगी, भगवान्के दर्शन होंगे; तो इस प्रकार शरीर हमारे काम आया। आप थोड़ा गहरा विचार करें—वास्तवमें शरीर आपके काम नहीं आया। शरीरसे मेरापन मिटा है। भजन-ध्यान करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया। शुद्ध अन्तः-करणमें यह ज्ञान जाग्रत् हुआ कि 'मैं शरीर नहीं हूँ तथा शरीर मेरा नहीं है।' आप ज्यों-के-त्यों हैं। आपके शरीर क्या काम आया? शरीरकी शुद्धि हुई। शुद्धि होनेसे मैंपन, मेरापन मिटता है। मैंपन और मेरापन यह अशुद्धि है। गीता-( ५। ११ )में श्रीभगवान्ने कहा है कि योगीलोग अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। **'केवलैः'** पद श्लोकमें आया है। **'केवलः'** पद इन्द्रिय, मन, बुद्धि, काया सबके साथ लगेगा। **'केवलेन**

कायेन, केवलेन मनसा, केवलया बुद्ध्या, केवलैः इन्द्रियैः।' केवल कहनेका मतलब इनके साथ अपना सम्बन्ध न मानना है। इनके साथ अपनापन मानना ही अशुद्धि है। रामायणमें **'ममता मल जरि जाय'** ऐसा आया है। ममतारूपी मल है।

हम बहुत वर्षोंसे जप-ध्यान करते हैं और मन शुद्ध नहीं होता, क्या कारण है? उसमें मेरापन है, यह मान्यता रखते हैं। यह मान्यता पकड़ी हुई है। मनको शुद्ध करना चाहते हो, पर मेरापन छोड़ते नहीं। मेरापन रखना ही अपवित्रता है। जप-ध्यान अपने लिये मानते हो! ऐसा मानते हो कि जप-ध्यान करें तो हमारा कल्याण होगा। पर वास्तवमें नाम-जपसे, कीर्तनसे, भजन-ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध होगा। तब यह बात समझमें आ जायगी कि ये 'मैं' नहीं, ये 'मेरे' नहीं हैं?

शरीर मेरा नहीं है, शरीर मैं नहीं हूँ, फिर आपके लिये शरीर कैसे हुआ? आप तो शरीर-मन-बुद्धिसे सदैव अलग ही हैं। अपने लिये मानते रहनेसे सम्बन्ध जुड़ता है। परमात्माका हम चिन्तन करते हैं तो मन, बुद्धिसे ही चिन्तन करेंगे। मन-बुद्धि प्रकृतिके हैं कि आपके? तो भगवान्‌के चिन्तनमें आप पराधीन हो गये। प्रकृति 'पर' है, आप स्वयं 'स्व' हो। 'पर'का सहारा लेना पड़ा, तो आप पराधीन हुए। ध्यान करो तो जड़का सहारा लेना पड़ेगा। समाधि लगाओ तो जड़का सहारा लेना पड़ेगा। पर जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति होती नहीं। चेतनकी प्राप्ति जड़के त्यागसे होती है। जड़ताके त्यागसे चिन्मयतामें हमारी स्थिति होगी। जड़ताका आश्रय लेंगे, जड़ताकी आवश्यकता समझेंगे तो जड़ चीजोंसे, शरीर आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे करेंगे? जब इनका त्याग करनेसे ही कल्याण होगा, तो ये हमारे क्या काम आये? इनका त्याग ही हमारे काम आता है। वह आज ही कर दें तो कितना अच्छा हो।

ठीक तरहसे समझें इस बातको कि शरीर हमारे लिये कैसे हुआ? इसलिये भजन-ध्यान करो, दान-पुण्य करो, सेवा करो, सब कुछ करो शरीरसे, पर अपने लिये नहीं; तो ये सब चीजें कल्याण करनेवाली हो जायँगी। कब? जब इस भावसे करोगे कि ये सब मेरे नहीं हैं, मेरे लिये नहीं हो सकती हैं। प्रश्न उठता है कि फिर करते क्यों हो? दूसरोंसे हमने लिया है—इसलिये। शरीर भी दूसरोंसे मिला है, अन्न, जल दूसरोंसे मिलता है, हवा भी हमारे जीनेके लिये मिलती है। राह, सड़क औरोंसे मिली है, छाया, मकान सब चीजें औरोंसे मिली हैं। मिली हुई चीज जिनसे मिली है, उनकी सेवामें लगा देना है कर्जा उतारनेके लिये। आगे कर्जा लेना नहीं है। अपना मानकर अपने लिये चाहते रहनेसे कर्जा चढ़ता रहेगा। इसलिये नया कर्जा करना नहीं है।

शरीर हमारे काम आ जाय, यह इच्छा रहेगी, तो यह आपके कैसे काम आयेगा? आप चेतन हैं, जड़ शरीर आपके कैसे काम आयेगा? तो हम क्या करें? जड़तासे माना हुआ सम्बन्ध है। उस सम्बन्धको छोड़ानेके लिये सेवा करें, भजन-ध्यान करें, जप करें, समाधि लगायें; परन्तु अपने लिये नहीं। अपने लिये मानते रहनेसे व्यक्तित्व बना रहता है। श्रुतियोंमें **'ब्रह्मणे स्वाहा इदं न मम'** आता है। **'इदं न मम'** पद देनेका तात्पर्य है कि यह हवि हमारे लिये नहीं है अर्थात् यज्ञके साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर देना। श्रीगीताजीमें भी **'दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्'** (१७। २०) इस श्लोकमें **'अनुपकारिणे'** पद देकर अपने लिये किञ्चिन्मात्र भी न चाहनेका लक्ष्य कराया है।

इस श्लोकपर जरा विचार करें। आपको व्याकरणकी एक आश्चर्यकी बात बताता हूँ। **'अनुपकारिणे'** पदमें चतुर्थी विभक्ति दी है और **'देशे काले च पात्रे'**में

सप्तमी विभक्ति दी है । इसका क्या तात्पर्य है ? **'पात्रे च'** में तो कम-से-कम सप्तमी नहीं कहनी चाहिये थी । **'पात्राय'** होना चाहिये, सप्तमी कैसे हो गयी वहाँ ? इसका तात्पर्य क्या है, पूरा तो भगवान् जानें और व्यासजी महाराज जानें, अपनेको पता नहीं । हम तो कोई विद्वान् हैं नहीं, परंतु हमारी धारणामें **'देशे काले च पात्रे च'** कहनेमें **'देशे काले प्राप्ते सति'** अर्थात् देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर— **'अनुपकारिणे दीयते'** है । **'अनुपकारिणे'** का अर्थ यह है कि (जिसने हमारा) न तो उपकार किया है, न उपकार करता है और न हमें उससे उपकारकी आशा है । उपकारीको दिया जाय तो वह सात्त्विक दान नहीं होगा, वह दान राजस होगा । **'यत्तु प्रत्युपकारार्थम्…'** आदि कहा है जो राजस हुआ; क्योंकि दानसे सम्बन्ध जोड़ लिया; रागात्मक सम्बन्ध हो गया और **'रजो रागात्मकं विद्धि'** होता है । राग क्या है ? सम्बन्ध जोड़ना है । अतः उपकारकी आशा रखकर देना सात्त्विक दान नहीं है । वह बाँधनेवाला दान है । यद्यपि भगवान्‌ने गीताके १७।२०में वर्णित दानको सात्त्विक दान कहा है, परंतु वास्तवमें यह दान नहीं, यह त्याग है; क्योंकि यह देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर, अपना सम्बन्ध न रखते हुए दिया जाता है ।

ऐसे ही जप-ध्यानका सम्बन्ध भी हमारे साथ न रहे । सेवाका भी सम्बन्ध हमारे साथ न रखें । यदि सेवा करके हम समझते हैं कि हमने बड़ा काम किया तो गलती करते हैं । हमारे पास जो शक्ति है, यह समष्टिकी शक्ति है; समष्टिसे अधिक या अलग कोई योग्यता या शक्ति आपके पास है क्या ? विद्या, बुद्धि, योग्यता कुछ भी परिस्थिति जो आपको प्राप्त है, वह आपको समष्टिसे मिली है । समष्टिकी चीज समष्टिकी सेवामें लगा दो तो क्या अहसान किया ? उसीकी चीज उसीके काममें लगा देना ईमानदारी है । अपने लिये लगाते हो तो अहंकार आवेगा । मैंपन है, तो मेरापन आवेगा, मेरे लिये आवेगा ।

न तो यह मैं हूँ, न मेरा है, न मेरे लिये है । 'यह' करके जिसको कहते हैं, वह 'मैं' कैसे हुआ ? 'यह' 'मैं' नहीं होता । 'मैं' होता है, वह 'यह' नहीं होता । शरीर यह है, मन यह है, बुद्धि यह है, प्राण यह है । मैंपन यह है । तो ये सब हमारा स्वरूप कैसे हुए ? न तो मैं हूँ और न ये मेरे हैं । खूब सोचो, इसे समझनेके लिये ।

आपने किसीको पढ़ाया । किसीको आपने शिष्य बनाया । गायत्री-मन्त्र दिया आपने, तो वह आपका शिष्य हो गया और आप उसके गुरुजी हो गये । गुरु और शिष्य दो हुए । अब तीसरा दोनोंका आपसका सम्बन्ध हुआ । यह सम्बन्ध एक अलग सत्ता हो गया । यह सम्बन्ध ही एक आफत हो गया । यह सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है । अतः जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद जल्दी-से-जल्दी कर लेना चाहिये । जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होना ही अहङ्कारका मिटना है ।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

## विरहीकी व्यथा

कबहूँ देखिहौं इन नैननि ।
सुंदर स्याम मनोहर मूरति, अंग अंग सुख दैननि ॥
बृंदाबन बिहार दिन दिन प्रति, गोपद बृंद संग लैननि ।
हँसि हँसि हरषि पतोवनि पावन बाँटि बाँटि पय फैननि ॥
'कुंभनदास' किते दिन बीते, किये रैनु सुख-सैननि ।
अब गिरिधर बिनु निसि अरु बासर मन न रहतु क्यों चैननि ॥

( ११ । ३ )

# धर्मको जीवनमें उतारिये

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० )

'तुम्हें आज भी अपना पाठ याद नहीं हुआ ?'

'गुरुजी, क्षमा कीजिये, यह पाठ बड़ा कठिन है। इसका मुझसे अभ्यास हो नहीं पा रहा है।'

'क्या कठिनाई है, युधिष्ठिर ?'

'गुरुजी! आपने समझाया था कि धर्मका पहला सिद्धान्त है 'सदा सत्य बोलो।' मैं तभीसे इस गुरुमंत्र-पर आचरण कर रहा हूँ, किन्तु बार-बार क्रियाओंमें मिथ्यावादी बन जाता हूँ। सच बोलने और उसके अनुसार जीवनको ढालनेका अभ्यास निरन्तर चालू है, पर सफलता नहीं मिल रही है। आपने ही तो सिखलाया था कि सच्ची पढ़ाई तो ज्ञानानुसार आचरणमें है।'

कक्षाके और शिष्य तो 'सच बोलो' जैसे पाठको याद कर लानेमें संतोष प्रकट कर रहे थे। किंतु युधिष्ठिर इस कक्षामें पिछड़े हुए कहला रहे थे।

युधिष्ठिर कहते थे—'धर्म पुस्तकोंमें पड़े रहनेकी वस्तु नहीं है, यह कुछ मंत्रोंके तालसुरसे गाये जानेवाली चीज नहीं है, पूजा-पाठका अभिनय करनेमें भी धर्म नहीं है, वरन् धर्म तो दैनिक जीवनमें—खुद रोजानाके व्यवहारमें—उतारनेकी चीज है। उसपर अमल होना चाहिये। बस गुरुजी, यही मुश्किल है। मैं व्यावहारिक जीवनमें सत्यको धारण करनेका अभ्यास कर रहा हूँ। जिस दिन सत्यको पूरी तरह धारण करना सीख लूँगा, उसी दिन यह पाठ पूरा होगा।'

युधिष्ठिरने अभ्यास किया और बहुत दिन बाद वह पाठ अभ्यस्त हो गया। लेकिन वह गुण उन्होंने इतनी दृढ़तासे धारण किया कि कभी भी न भूल पाये।

बाहरसे तो हर कोई सत्य-धर्मको धारण करनेका स्वाँग भरता है, पर वह बहुधा झूठा आडम्बरपूर्ण और दिखावटीरूप ही प्रस्तुत करता है। बिना पढ़े-लिखे, आलसी, निकम्मे, अशिक्षित, मूढ़ लोगोंने उसपर अधिकार कर लिया है। कुछने उसे रोटी-रोजीका साधन बना लिया है। सत्यधर्म किताबोंमें बन्द रहनेकी चीज नहीं है। वह तो हर आदमीके रोजमर्राके जीवनमें नित्य हर घड़ी उपयोगमें आनेवाला तत्त्व है।

धर्मकी जिम्मेदारी बड़ी भारी है। वह हमारे आचार-व्यवहार, रोजकी जिन्दगीको नियंत्रित करनेवाली शक्ति है। 'धर्म' हमें तो उच्च आदर्श, पवित्र गुण, समुन्नत जीवन जीनेका आदेश देता है, उस गौरवकी रक्षा करना हर इन्सानका फर्ज होना चाहिये।

मानवताकी देवी हमें उँगलीके इशारेसे उन लोगोंको दिखाती है, जो धर्मका गलत मतलब लगाकर शेख-चिल्लियों-जैसी ऊँची-ऊँची थोथी बातें करते हैं और पूछती है, 'क्या तुम इन अज्ञानियोंको सद्-ज्ञानका मार्ग स्वयं धार्मिक जीवन जीकर सिखा रहे हो ? कहीं तुम्हारा धर्म काल्पनिक तो नहीं है ? धर्मको तो व्यावहारिक होना चाहिये। तुम्हारा धर्म कहीं धर्म-ग्रन्थोंके पृष्ठोंमें तो बन्द नहीं है ?'

श्रीलक्ष्मणजीने हनुमान्‌जीसे रामकी ओर संकेत करके कहा—

**'अहमस्यावरो भ्राता गुणैर्दास्यमुपागतः।'**

( वाल्मीकि रा० कि० सं० ४। १२ )

'—मैं इन-(राम-) का छोटा भाई हूँ और इनके अनेक श्रेष्ठ गुणोंके कारण इनका दास हो गया हूँ।'

महर्षि वेदव्यासजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—

**तथापि निघ्नं नृप तावकीनैः**
**प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।**

( किरात० ३। १२

युधिष्ठिर, हम-सरीखे पुरुषोंको सर्वत्र समदृष्टि रखनी चाहिये, तो भी तुम्हारे ( व्यवहारमें दीखनेवाले ) गुणोंसे पिघला हुआ मेरा मन तुम्हारे वशमें हो गया है ।

श्रीभगवान् विष्णुजीने राजा पृथुसे कहा था—

**वरं च मत् कंचन मानवेन्द्र**
**वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ॥**
( श्रीमद्भा० ४ । २० । १६ )

'हे राजन् ! मुझसे कुछ वरदान माँग । मैं तेरे गुण और शील ( आचरण ) ( धर्मके दैनिक जीवन और व्यवहारमें आने ) से तेरे वशमें हो गया हूँ ।'

इन्द्रने राजा हरिश्चन्द्रसे कहा—

**तितिक्षादमसत्याद्यैः स्वगुणैः परितोषितः ।**
( मार्कण्डेयपु० ८ । ४६ )

'राजन् ! तितिक्षा ( सहनशीलता ), दम ( इन्द्रिय-निग्रह ) सत्य आदि अपने व्यावहारिक गुणोंसे आपने मुझे प्रसन्न कर लिया है ।'

**'येषां गुणगणैः कृष्णदौत्यादौ भगवान् कृतः ।'**
( श्रीमद्भा० १ । ७ । १७ )

पाण्डवोंके सद्गुणोंने भगवान् श्रीकृष्णजीसे दूत और सारथिके काम करा लिये ।

**यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।**
**तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥**
( श्रीमद्भा० ४ । ९ । ४७ )

अर्थात्—'मैत्र्यादि योगनिर्दिष्ट सद्गुणोंसे भगवान् प्रसन्न होते हैं और जिसपर वे प्रसन्न हो जाते हैं, उसके सामने वैसे संसार नमता है, जैसे जल नीचेको जाता है ।'

# श्रीमद्भागवतके उद्देश्य और उसकी महिमा

( पूज्य श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजके काशी-ज्ञानवापी-प्राङ्गणमें हुए प्रवचनका सारांश )

**सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।**
**तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ॥**
( माहात्म्य अ० १ श्लोक १ )

'जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके हेतु हैं, तथा जो तीनों तापोंके शमनकर्त्ता हैं—ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका हम सब वन्दन करते हैं ।'

शास्त्रमें परमात्माके तीन स्वरूप कहे गये हैं—सत्, चित् तथा आनन्द । प्रकट रूपमें सत् सर्वत्र है, चित् मौन है तथा आनन्द अव्यक्त है । जड़ वस्तुओंमें सत् तथा चित् तो है, पर आनन्द नहीं है । जीवमें सत् और चित् प्रकट रूपमें रहते हैं, परंतु आनन्द अप्रकट रहता है अर्थात् अव्यक्त रूपमें रहता है । आनन्द अपने अन्दर ही है, फिर भी मनुष्य आनन्दको बाहर खोजता है । नारी, देह, धन, सम्पत्ति आदिमें मनुष्य आनन्द खोजता है ।

आनन्द तो हमारा अपना स्वरूप है, आनन्द तो हमारे अंदर ही है । इस आनन्दको जीवनमें किस प्रकार प्रकट किया जाये—भागवतशास्त्र यही सिखाता है ।

दूधमें मक्खन रहता है, पर वह दीखता नहीं है । दूधका दही जमाकर उसका मन्थन करनेपर मक्खन प्रकट हो जाता है । इसी प्रकार मनोमन्थन करके मानवको 'आनन्द' प्रकट करना है । जैसे दूधमें मक्खनका अनुभव नहीं होता, इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी परमेश्वर अनुभवमें नहीं आते ।

जीव तो ईश्वरका ही अंश है, पर उस ईश्वरको पहचाननेका यत्न जीव नहीं करता है । इस कारण उसे आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती है । प्रत्येक जीवको ईश्वरसे मिलना है । नास्तिक भी ( थक-हारकर ) अन्तमें शान्ति ही खोजता है । ईश्वरसे मिलना ही शान्ति है ।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आनन्दके अनेक स्वरूप बताये
ो हैं। इनमें दो मुख्य हैं—

( १ ) साधनजन्य आनन्द, ( २ ) स्वयंसिद्ध
नन्द।

साधनजन्य आनन्द अर्थात् विषयजन्य आनन्दका
श साधन या विषयके नाश होनेपर हो जाता है।
र योगियोंके पास कुछ भी ( साधन या विषय ) नहीं
ता, फिर भी वे सदा आनन्दमें रहते हैं; इससे सिद्ध
ता है कि आनन्द स्वयंके भीतर ही है। जो आनन्द
यंके भीतर है, वह स्वयंसिद्ध आनन्द है। यह
नन्द सर्वोपरि है। इससे बढ़कर कोई अन्य आनन्द
हीं है।

सत्, चित्, आनन्द ईश्वरमें परिपूर्ण हैं। परमात्मा
रिपूर्ण सत्‌रूप, परिपूर्ण चित्‌रूप, परिपूर्ण आनन्दरूप
। भगवदवतार श्रीराम सच्चिदानन्दघन ही हैं—
**सोइ सच्चिदानन्दघन रामा।'**

परमात्मा श्रीकृष्ण परिपूर्ण आनन्द-स्वरूप हैं।
श्वरके बिना संसार अपूर्ण है। ईश्वरका अंश जीवात्मा
ो अपूर्ण है। जीवमें यद्यपि चिद्-अंश है फिर भी वह
रिपूर्ण नहीं है। मनुष्यमें ज्ञान आता है, परंतु वह
न स्थायी नहीं होता। श्रीकृष्ण परिपूर्ण ज्ञानी हैं।
कृष्णको सोलह हजार रानियोंके साथ बात करते
मय भी वही ज्ञान था और जिस समय सारी द्वारिका
ादिका नाश हो रहा था उस समय भी वही ज्ञान
। श्रीकृष्णका आनन्द रानियोंमें या द्वारकामें है ही
हीं। सबका विनाश हो रहा था तो भी श्रीकृष्णके
ानन्दका विनाश नहीं हुआ था। कारण वह आनन्द
त्य है। स्वयं श्रीकृष्ण आनन्दरूप हैं। सत् नित्य
, चित् यह ज्ञान है, चित्-शक्ति अर्थात् ज्ञान-
क्ति। मनुष्य अपने स्वरूपमें स्थित नहीं है, अतः इसे
नन्द नहीं मिलता। मनुष्य जिस प्रकार बाहर विवेक
रखता है वैसा घरमें नहीं रखता। मनुष्य एकान्तमें सुख-स्वरूपमें स्थित नहीं रहता, जबकि उत्पत्ति, स्थिति और संहारलीलामें श्रीठाकुरजीके स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता। श्रीठाकुरजी संहारको भी अपनी लीला ही मानते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और संहार श्रीठाकुरजीकी लीला है। परमात्मा तीनोंमें आनन्द मानते हैं और अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं।

जिसका ज्ञान नित्य टिकता है, उसे ही आनन्द मिलता है। वही आनन्दरूप होता है। जीवको यदि आनन्दरूप होना हो तो उसे सच्चिदानन्दका आश्रय लेना होगा। जीव जबतक परिपूर्ण नहीं होता, तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती है। आनन्द नहीं मिलता है। संसारका प्रत्येक पदार्थ परिणाममें विनाशी होनेके कारण अपरिपूर्ण है। परिणाममें तो वह भगवान् श्रीनारायण ही परिपूर्ण हैं। इन नारायणको पहचानकर इनके साथ जो मनको तदाकार करता है, उसीका मन नारायणके साथ एक होता है। केवल वह जीवात्मा ही श्रीनारायणरूप बनता है और वही परिपूर्ण होता है। तभी जीवका जीवन सफल होता है। जीव जबतक अपूर्ण है तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती। जीव जब ईश्वरसे मिलता है और उसका अपरोक्ष साक्षात्कार करता है तभी जीव परिपूर्ण होता है। परमात्मा श्रीकृष्णके दर्शन पानेके लिये ही यह मनुष्यका अवतार है। मानव ही श्रीभगवान्‌का दर्शन कर सकता है। पशुको तो अपने स्वरूपका भी भान नहीं होता है। वह बेचारा परमात्माके दर्शन करे ही कैसे! परमात्माके दर्शनके बिना जीवन सफल नहीं होता है। जो परमात्माका दर्शन करता है, उसीका जीवन सफल है। यह जीव अनेक वर्षोंसे ( अनन्त जन्मोंसे ) भोग भोगता चला आ रहा है फिर भी इसे शान्ति नहीं मिली। यह शान्ति तो तब मिले कि जब जीवको परमात्माका दर्शन

मिले। श्रीकृष्ण परमात्माके दर्शनके बिना जीवको परिपूर्ण शान्ति नहीं मिलती।

शास्त्रोंमें दर्शनके तीन प्रकार बताये गये हैं—

( १ ) स्वप्नमें प्रभुकी झाँकी होती है, यह हुआ साधारण दर्शन।

( २ ) मन्दिर और मूर्तिमें परमात्माके दर्शन, यह मध्यम दर्शन है।

( ३ ) ईश्वरका अपरोक्ष दर्शन, यह उत्तम दर्शन है।

जब परमात्माका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है तब जीवन सफल हो जाता है। वेदान्तमें साक्षात्कारके दो प्रकार कहे गये हैं—( १ ) परोक्ष ज्ञान, ( २ ) अपरोक्ष ज्ञान।

ईश्वर किसी एक स्थानपर है, ऐसा जो माने वह परोक्ष साक्षात्कार है। ईश्वरके बिना कुछ नहीं है, ईश्वर ही सब कुछ है, मैं भी ईश्वरसे भिन्न नहीं हूँ—यह है ईश्वरका अपरोक्ष साक्षात्कार।

जिसे 'मैं स्वयं ब्रह्म हूँ'—( **अहम् ब्रह्मास्मि** ) ऐसा ज्ञान ( अनुभव ) होता है उसे अपरोक्ष साक्षात्कार हुआ है, ऐसा माना जाता है। देखनेवाला ईश्वरको देखते ही ईश्वरमय हो जाता है। तभी उसे ईश्वरका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। 'सबमें ईश्वरका ही अनुभव करते-करते जो उसीमें एकरूप हो जाता है, केवल वही ईश्वरके परिपूर्ण स्वरूपको जान सकता है। वेदान्तमें इसीको अपरोक्ष साक्षात्कार कहते हैं। जगत्‌में ईश्वर किसी एक स्थानमें है, यह ज्ञान भी अपूर्ण है। ईश्वर सर्वव्यापक है। केवल एक मूर्तिमें या मन्दिरमें वह रह नहीं सकता ( समा नहीं सकता )। मन्दिरमें प्रभुके दर्शन कर लेनेपर ज्ञानी पुरुष, जहाँ दृष्टि जाती है, वहीं भगवान्‌के रूपका अनुभव करते हैं। मन्दिरमें प्रभुके दर्शन करके बाहर आनेपर, प्रत्येकमें परमात्माका दर्शन करे, मन जहाँ जाये वहाँ ईश्वरका दर्शन करे, यही है ईश्वरका असाधारण दर्शन। जो परमात्मा मुझमें है वही सबमें है। इस प्रकार जिसे अखिल जगत् ब्रह्मस्वरूप दीखता है, वही ज्ञानी है। सबमें परमात्माका अनुभव करते-करते उसे अपने स्वरूपमें भी परमात्माका अनुभव होता है। परमात्माके परोक्ष दर्शनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता, परंतु जीव जब परमात्माका अपरोक्ष दर्शन करता है तभी कृतार्थ होता है। ज्ञानी पुरुषोंको तो अपने स्वरूपमें भी श्रीभगवान् दीखते हैं। यही अद्वैत है। श्रीकृष्णकी लीलाएँ इसीलिये हैं कि इन लीलाओंका चिन्तन करती गोपियाँ, अपने स्वरूपमें भी परमात्माका अनुभव करती हैं। '**लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।**' गोपियोंको अपने स्वरूपका विस्मरण हुआ है और कहती हैं, 'मैं ही कृष्ण हूँ।' अपने ( प्यारे ) कृष्णका सबमें अनुभव करती गोपियाँ श्रीकृष्णमय बनी हैं। जिसे अपने अंदर परमात्माका दर्शन होता है, वह जीव परमात्मामें मिल जाता है। अपने अंदर जिसे परमात्मा दीख जाते हैं, उसके बाद वह जीव ईश्वरसे अलग नहीं रह सकता। वह ईश्वरमें मिल जाता है। यही श्रीभागवतका फल है।

ज्ञानी ज्ञानसे परमात्माका ( ब्रह्मका ) अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। जब कि वैष्णव ( भक्त ) प्रेमसे परमात्माका अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। श्रीमद्भागवतमें इसका विशद निरूपण है।

परमेश्वर जीवको अपनाकर जब अपने स्वरूपका दान करते हैं तभी वह जीव पूर्ण होता है। बिना ईश्वरके सारा संसार अपूर्ण है। जीव अपूर्ण है, अतः इसे शान्ति नहीं है। नारायण ही पूर्ण हैं। सच्ची शान्ति नारायणमें है। नर नारायणका अंश है, अतः नर तो नारायणमें ही समा जाना चाहता है। श्रीनारायणकी पहचान करानेवाला और श्रीनारायणमें लीन होनेका साधन यह श्रीभागवतशास्त्र है।

जीव नारायणका अंश है। इसे तो उसीमें मिल ना है। इसके लिये शास्त्रोंने अनेक मार्ग कहे हैं—१ ) कर्ममार्ग, ( २ ) ज्ञानमार्ग तथा ( ३ ) भक्तिमार्ग।

उपनिषदोंसे ( उपनिषदोंके ज्ञानसे ) ईश्वरका अपरोक्ष क्षात्कार होता है। परंतु श्रीव्यासजीने विचार किया उपनिषदोंकी भाषा गूढ़ है। इसे सामान्य मनुष्य झ नहीं सकेंगे। उपनिषदोंका ज्ञान तो दिव्य है, तु संसारी लोग वैसे दिव्य ज्ञानका अनुभव नहीं कर केंगे; क्योंकि मनुष्योंका जीवन तो अति विलासी है र विलासी जीवन उस दिव्य ज्ञानका अधिकारी हो हीं सकता। इसलिये ज्ञानमार्गसे जीव ईश्वरके पास जा के, यह असम्भव है। अति वैराग्यके बिना ज्ञानमार्गमें फलता नहीं मिलती। ज्ञानका आधार है वैराग्य। ऐसा ति वैराग्य प्राप्त करना कठिन है। श्रीशुकदेवजी हाराजको ऐसा ( अति ) वैराग्य प्राप्त हुआ था। न्म होते ही उन्होंने वनकी ओर प्रयाण किया था र पितासे कहा था—'आप पिता नहीं हैं और मैं त्र नहीं हूँ।' वेद त्यागका उपदेश करते हैं। शास्त्र ब कुछ छोड़नेको कहते हैं। शास्त्र तो कहते हैं—काम छोड़ो, क्रोध छोड़ो।' परंतु मनुष्य कुछ छोड़ नहीं कता। जो साधारण पान-सुपारी भी नहीं छोड़ सकते, काम, क्रोध, लोभ किस प्रकार छोड़ेंगे! वे घरका ाग किस प्रकार करेंगे! ( सर्वसाधारण ) मनुष्यको कुछ करना नहीं है और वह कुछ छोड़ भी नहीं कता। परंतु वेदान्तशास्त्र तो कहता है कि सब कुछ ोड़कर सर्वस्वका त्याग करके ईश्वरके पीछे पड़ोगे तभी म ईश्वरको पहचान सकोगे, उनसे मिल सकोगे। र्वका त्याग, सर्वस्वका त्याग तो साधारण मनुष्यके लिये लभ नहीं है। ऐसी स्थितिमें इस कृपाणकी धारवाले र्गको अपनाना साधारण साधकके लिये उपयोगी नहीं है।

वेदके चार भाग हैं—( १ ) संहिता, ( २ ) ह्मण, ( ३ ) आरण्यक, ( ४ ) भाष्य ( उपनिषद् )। वेदोंकी समाप्ति उपनिषदोंसे होती है, अतः उसे वेदान्त कहते हैं। आरण्यकमें उपनिषद्वाला भाग आता है। जिन ग्रन्थोंका चिन्तन ऋषि करते हैं उन्हें आरण्यक कहते हैं। बंगलोंमें भोग-विलासके बीच रहनेवालोंका उपनिषदोंमें ( उपनिषदोंके अध्ययनमें ) अधिकार नहीं है। अपने-जैसे संसारमें फँसे जीव उपनिषदोंके ज्ञानको पचा नहीं सकते, उपनिषदोंका बताया मार्ग अपने-जैसोंके लिये सुलभ नहीं है। उपनिषदोंका तात्पर्य त्यागमें है। इन सब बातोंका विचार करके भगवान् व्यासजीने श्रीमद्भागवतशास्त्रकी रचना की है।

जो पान-सुपारी, चाय नहीं छोड़ सकते और जो दो-चार घंटे कथामें बैठें तो भी नसवार ( छींकणी ) की डिब्बी नहीं छोड़ सकते हैं, वे काम-क्रोधादि विकारोंको कैसे छोड़ सकेंगे! फिर उनका कल्याण कैसे हो? वे संसारसे लिप्त होनेके कारण अपना कल्याण-पथ नहीं पहचानते। उनके लिये साधनका यह पथ दुर्गम भी है।

जो कामसुखका उपभोग करते हैं वे योगाभ्यास नहीं कर सकेंगे। भोगी यदि योगी होने जायेगा तो वह रोगी हो जायेगा। ज्ञान-मार्गमें जिसका पतन होता है वह नास्तिक बनता है। योगमार्गमें जिसका पतन होता है वह रोगी बनता है। भक्तिमार्गमें जिसका पतन होता है वह आसक्त बनता है। कलियुगी मनुष्य योगाभ्यास नहीं कर सकता। अतः भागवत-शास्त्रकी रचना कलियुगके जीवोंके उद्धार करनेके लिये की गयी है। इसमें कल्याणका सुगम पथ दर्शित है।

श्रीमद्भागवतमें एक नवीन मार्गदर्शन कराया गया है। 'हम घरबार और धंधा छोड़ नहीं सकते हैं' ऐसा कहनेवालोंको भागवतशास्त्र कहता है—'निराश न हो, सब कुछ छोड़कर जंगलमें जानेकी जरूरत नहीं है। केवल जंगलमें जानेसे ही आनन्द मिलता है, ऐसा

नहीं है।' जीव जब सब प्रकारकी प्रवृत्ति छोड़कर निवृत्तिमें बैठता है तब भी मनमें प्रवृत्तिके विचार आ जाते हैं। अतः जंगलमें जाना ही उपयोगी है—यह बात नहीं है।

श्रीभागवतशास्त्रका आदर्श दिव्य है। गोपियोंने घर नहीं छोड़ा। गोपियाँ घरका काम करती थीं। उन्होंने स्वधर्मका त्याग नहीं किया। वे वनमें नहीं गयीं। फिर भी वे श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सकीं। श्रीभागवत-शास्त्र ऐसा मार्गदर्शन कराता है कि योगीको जो आनन्द समाधिमें मिलता है, वही आनन्द आप घरमें रहते हुए भी प्राप्त कर सकते हैं। घरमें रहकर भी आप प्रभुको प्रसन्न कर सकते हैं। उन्हें पा सकते हैं। परंतु आपका प्रत्येक व्यवहार भक्तिमय हो जाना चाहिये। गोपियोंका प्रत्येक व्यवहार ही भक्तिमय हो गया था।

घरमें रहकर भी श्रीभगवान्‌का दर्शन हो सकता है। गोपियोंको घरमें ही परमात्माका दर्शन हुआ है। गोपियाँ यही मानती थीं कि जहाँ हम जाती हैं, हमारा श्रीकृष्ण हमारे साथ है। व्रजमें ऐसी गोपियोंके दर्शन करके उद्धवजीका ज्ञानगर्व उतर गया था—'**सुनि गोपिन को बैन ग्यान ऊधव को भूल्यौ।**' गोपियोंके सत्संगके बाद उद्धवजी कहने लगे—

**वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।**
**यासां हरिकथोद्‌गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥**

'नन्द बाबाके व्रजमें रहनेवाली इन गोपियोंकी चरणरजको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ और इसे मस्तकपर चढ़ाता हूँ। अरे, इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाओंके सम्बन्धमें जो गुणगान किये हैं वे तो तीनों लोकोंको पवित्र कर रहे हैं और सदा-सर्वदा पवित्र करते रहेंगे।'

गोपियाँ सबमें श्रीभगवान्‌को निहारती हैं। वे कह[ती] हैं—इस वृक्षमें, लतामें, फूलमें, फलमें मुझे मेरा प्या[रा] प्रभु दीखता है। मेरा कृष्ण तो मुझे छोड़कर जाता [ही] नहीं है। गोपियोंको घरमें ही श्रीपरमात्माका साक्षात्क[ार] हुआ है। श्रीभागवतमें कहा है कि घरमें रहो, अप[ना] व्यवहार करो, फिर भी परमात्माको प्राप्त कर सकोगे। घरमें रहना पाप नहीं है, परंतु घरको मनमें रखना पाप है। सबको साधु होनेकी जरूरत नहीं। य[दि] आप सब संन्यास ले लेंगे तो साधु-संन्यासियोंक[ा] स्वागत कौन करेगा? उनका सम्मान कौन करेगा?

गोपियोंकी प्रेमलक्षणा भक्ति ऐसी दिव्य है कि उनको घरमें रहते हुए भी प्रभुकी प्राप्ति हुई है। [वे] श्रीकृष्णरूप बनी हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णमें जिसका म[न] मिलेगा वह श्रीकृष्णरूप हो जायेगा। ऐसे अलौकिक भक्तिमार्गका वर्णन किया है भगवान् व्यासनारायणने इस भागवत-शास्त्रमें। इसी भक्तिद्वारा परमात्माका साक्षात्कार होगा।

श्रीमद्भागवत आपके प्रत्येक व्यवहारको भक्तिमय बना देता है। भागवत व्यवहार और परमार्थका समन्वय कर देता है। घरमें भी आपको वही आनन्द मिलेगा जो योगी वनमें बैठकर भोगते हैं। योगी समाधिमें जैसा आनन्द पाते हैं वैसा आनन्द गृहस्थको भी प्राप्त हो सके, इसलिये भागवत-शास्त्रकी रचनाकी गयी है। संसारके विषय-सुखोंके प्रति वैराग्य हो और प्रभुके प्रति प्रेम जागे, यही श्रीभागवतकी कथालीलाओंका उद्देश्य है।

भागवत अर्थात् भगवान्‌को मिलने-मिलानेका साधन। संतोंका आश्रय लेनेवाला संत बनता है, भागवतका आश्रय लेनेवाला भगवान् होता है। भागवतकी यह महिमा अद्वितीय है।

( क्रमशः )

# केशावतार

( श्रीचैतन्यचरितामृतकी डा० राधागोविन्दनाथकी टीकाके आधारपर )

'केश' शब्दके पर्यायवाची संस्कृत शब्द हैं—कच, कुन्तल, चिकुर आदि; हिन्दीमें प्रचलित शब्द है बाल। केशावतारसे साधारणतया लोग भगवान्‌के बालोंका अवतार मानते हैं। विष्णुपुराणमें उल्लेख है—

**एवं संस्तूयमानस्तु भगवान् परमेश्वरः।**
**उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने॥**
**उवाच च सुरानेतौ मत्केशौ वसुधातले।**
**अवतीर्य भुवोभारक्लेशहानिकरिष्यतः॥**

( वि० पु० ५। १। ५९-६० )

महाभारतमें भी उल्लेख मिलता है—

**स चापि केशौ हरिरुद्बबर्ह**
**शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम्।**
**तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां**
**कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च॥**
**तयोरेको बलदेवो बभूव**
**योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः।**
**कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव**
**केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः॥**

( महाभा० आ० १९६। ३२-३३ गीताप्रेस, १८९। ३१ भण्डारकर सं० )

'उस समय श्रीहरिने दो केश निकाले, एक श्वेत और दूसरा श्याम। ये दोनों केश यदुवंशकी दो स्त्रियोंमें—देवकी और रोहिणीमें प्रविष्ट हुए। उनमेंसे रोहिणीके बलदेव प्रकट हुए, जो भगवान्‌के श्वेत केशसे थे, दूसरा केश जो श्याम वर्णका बतलाया गया है, वही देवकीके गर्भसे भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुआ। श्रीमद्भागवतकी उक्ति इस प्रकार है—

**भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः**
**क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।**
**जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः**
**कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥**

( श्रीमद्भा० २। ७। २६ )

असुर सेना निपीड़ित पृथ्वीका भार हरनेके लिये श्वेत-कृष्ण-केश भगवान् अपने अंश बलदेवके सहित अवतीर्ण होकर अपने असाधारण माधुर्य और महिमाका प्रकाश करके लीला करेंगे। उनके लीला-रहस्य सबको ही दुर्ज्ञेय होंगे।

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये जिनके अवतीर्ण होनेकी बात कही गयी है, उनको 'सितकृष्णकेशः'—श्वेत-कृष्ण-केशयुक्त' कहा गया है। विष्णुपुराण और महाभारतकी उक्तिके यथाश्रुत अर्थके साथ संगति रखकर अर्थ करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि क्षीरोदशायी नारायण ही पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं; क्योंकि विष्णुपुराण और महाभारतके श्लोकके यथाश्रुत अर्थसे क्षीरोदशायी ही श्वेत-कृष्ण-केशयुक्त लगते हैं।

पर भावुक भक्तोंकी दृष्टिसे इन उक्तियोंके अर्थ कुछ विशेष सारगर्भित* हैं। कारण यह है कि 'केश' शब्दका साधारण अर्थ है—'बाल'। पूर्वोल्लिखित श्लोकोंमें 'बाल' अर्थमें ही 'केश' शब्द व्यवहृत हुआ है—ऐसा माननेपर यह भी मानना होगा कि भगवान्‌के शरीर-के बाल स्वभावतः ही श्वेत-कृष्ण हैं, अर्थात् उनके कुछ बाल स्वभावतः ही सफेद ( पके हुए ) हैं एवं कुछ बाल स्वभावतः ही काले ( कच्चे ) हैं, अथवा

* 'शारदातिलकादि'के अनुसार वैष्णवोंके—विष्णु, पुरुषोत्तम, राम-कृष्णादि-उपासक-भेदसे तथा रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, चैतन्य, रामानन्दादिके भेदसे कई मुख्य एवं अवान्तर सम्प्रदाय तथा मान्यताएँ हैं। कृष्णपरकताकी दृष्टिसे यह आलंकारिक लेख बहुत अनुसंधानपूर्ण है। वैसे यह 'सनातनशिक्षा'में भी स्वल्पान्तरसे प्रकाशित है।

उनके मस्तकके बाल पहले सभी काले थे। काल पाकर उनमेंसे कुछ पककर श्वेत ( याने सफेद ) हो गये हैं। पर इसका कोई प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता—**'न चास्य नैसर्गिकसितकृष्णतेति प्रमाणमस्ति ।'** ( श्रीमद्भा० २ । ७ । २६ श्लोककी क्रमसंदर्भ टीका )

'अतएव उनके बाल स्वभावतः ही श्वेत-कृष्ण हैं'—यह अनुमान विचारयुक्त नहीं है और उनके बाल पहले भी कृष्णवर्ण थे, काल पाकर पीछे कुछ बाल पककर श्वेतवर्ण ( सफेद ) हो गये—ऐसा प्रमाण भी ग्रहणीय नहीं हो सकता। यह अनुमान स्वीकार करनेमें मानना होगा कि भगवान् नारायण भी साधारण मनुष्यकी तरह कालके प्रभावके अधीन हैं। देवता मात्र ही निर्जर ( जराविहीन ) हैं, यह बहुत प्रसिद्ध है। भगवान् कालके प्रभावसे अतीत हैं। जरा या वार्द्धक्य (वृद्धावस्था) के कारण ही लोगोंके मस्तकके बाल पककर सफेद हो जाते हैं। भगवान्के लिये जरा वार्धक्य या श्वेतकेशता सम्भव नहीं, उनका रूप नित्य है **—यैर्यथाश्रुतमेवेदं व्याख्यातं ते तु न सम्यक् परामृष्टवन्तः यतः सुरमात्रस्यैव निर्जरत्वं प्रसिद्धम् । अकालकलिते भगवति जरानुदयेन केशशौक्ल्यानुपपत्तिः ।*** ( श्रीमद्भा० २ । ७ । २६ श्लोककी क्रम-संदर्भ टीका । ) इस प्रकार देखा गया है कि श्लोकस्थित 'केश' शब्दका 'बाल' अर्थ विचारयुक्त नहीं है । तब किस अर्थमें व्यवहृत हुआ है—यह देखा जाय।

विष्णुपुराण, महाभारत या श्रीमद्भागवत—सभीमें 'केश' शब्द ही व्यवहृत हुआ है । कच, कुन्तल, चिकुर आदि जो भी शब्द 'बाल' के द्योतक हैं, उस प्रकारका कोई भी शब्द कहीं भी व्यवहृत नहीं हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन सब स्थानोंमें 'केश' शब्द एक विशेष अर्थमें व्यवहृत हुआ है। भगवान्के अंश-( तेज, किरण, शक्ति आदि-)को विशेष अर्थमें 'केश' कहा जाता है, इसका प्रमाण विद्यमान है। सहस्रनाम-भाष्यमें उद्धृत महाभारत-वचनसे देखनेमें आता है, भगवान् कहते हैं—मुझमें विद्यमान अंशुसमूह ( ज्योतिःसमूह ) का नाम 'केश' है, इसीसे सर्वज्ञ मुनि-सत्तम-गण मुझे 'केशव' कहते हैं—

**अंशवो ये प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ।**
**सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्मुनिसत्तमाः ॥†**

( गीताप्रेस, महा० भा० शान्तिपर्व ३४१ । ४८-४९, भाण्डारकर महा० भा० शान्तिपर्व ३२८ । ४३ )

—केशव 'केश' शब्दके उत्तर मतुबर्थमें 'व' प्रत्यय है। अर्थ है विशिष्ट केशवाले व्यक्ति विष्णु-कृष्ण ही केशव हैं। मोक्षधर्ममें वर्णित है कि नारदने भगवान्के मध्य नाना वर्णकी किरणोंका दर्शन किया था। श्रीकृष्णके अवतार-प्रसङ्गमें सर्वत्र ही जब 'केश' शब्दका प्रयोग हुआ है, कहीं भी बाल-वाचक कच आदि कोई-सा भी एक भी शब्द व्यवहृत नहीं हुआ और भगवान्ने जब स्वयं अपने मुखसे कहा है कि उनकी ज्योतिः या किरणको ही 'केश' कहा जाता है, स्वयं नारदने भी जब अपनी आँखोंसे भगवान्के बीच नाना वर्णकी ज्योतिका दर्शन किया है, तब ऊपर उद्धृत श्लोकमें 'ज्योतिः' अर्थमें ही 'केश' व्यवहृत हुआ है—इसमें किसी भी प्रकारका संन्देह नहीं रह जाता। **'तत्र च सर्वत्र केशेतरशब्दाप्रयोगात् नानावर्णांशूनां श्रीनारददृष्टतया मोक्षधर्मप्रसिद्धेश्च ।'**

* तथापि भगवान्के कुछ केश श्वेत अवश्य हैं। उनका नाम ही 'मुञ्जकेश' है; ( महाभा० शान्तिपर्व ३४२ । १०७—१३४ ) । उनके वक्षःस्थलपर रुद्रशूलाविद्ध अङ्गुष्ठप्रमाण श्वेत केशोंका आवर्त्तचिह्न ही 'श्रीवत्स' नामसे निर्दिष्ट होता है—**'केशा नारायणस्य ह'** ( वही ११२ तथा भागवतटीका स०, मानसपी० टीका ) । तत्तत्सम्प्रदायग्रन्थानुसार महालक्ष्मी मिश्रकेशी आदिके भी कुछ बाल श्वेत निर्दिष्ट हैं। † यहाँ भी 'ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्' वत् बहुवचनान्त रूपक दीखता है। विशेष जानकारीके लिये रत्नगर्भ, नीलकंठ श्रीधर, विष्णुचित्त आदिकी भी व्याख्याएँ द्रष्टव्य हैं।

श्रीकृष्णसन्दर्भ २९। श्रीनृसिंहपुराणमें भी इस सिद्धान्तका समर्थक प्रमाण मिलता है—

**देवक्यां वसुदेवाच्च अवतीर्य महीतले।**
**सितकृष्णे च मच्छक्ती कंसादीन् घातयिष्यतः॥**
(नरसिंहपुराण ५३। ३२)

श्रीनरसिंहपुराणमें **'सितासिते च मच्छक्ती इति तच्छक्तिद्वारैव श्रीकृष्णेन तद्घातनापेक्षया।'*** श्रीकृष्णसंदर्भ (२९)। श्रीनरसिंहपुराणमें श्रीनृसिंहदेवने कहा है—'मेरी शुक्ल (सित), कृष्ण (असित) शक्ति कंसादिकी हत्या करेगी।' उक्तिका तात्पर्य यही है कि श्रीनृसिंहदेवकी असुर-घातक-शक्तिने ही श्रीरामकृष्णमें रहकर कंसादिका वध किया था।

**स्वयं भगवानेर कर्म नहे भार-हरण।**
**स्थितकर्त्ता विष्णु करे जगत पालन॥**
**पूर्ण भगवान् अवतरे जेइ काले।**
**आर सब अवतार ताते आसि मिले॥**
**अतएव विष्णु तखन कृष्णेर शरीरे।**
**विष्णुद्वारे करे कृष्ण असुर संहारे॥**
(चै० च० आ० ४। ७, ९, १२)

श्रीनृसिंहदेवमें जो असुर-संहारिणी-शक्ति विराजित है, वही श्रीकृष्णके अभ्यन्तरस्थित विष्णुसे विकसित होकर असुर-संहार करती है। (अंशु, किरण, तेज, शक्ति प्रभृति एक ही अर्थ-वाचक शब्द हैं।)

इस प्रकार यहाँ विष्णुपुराण आदिके श्लोकोंमें तेज या शक्ति-अर्थमें 'केश' शब्द व्यवहृत हुआ दीखता है।

# लोकमें श्रीरामनवमीका महत्त्व

(लेखक—डॉ० जी० आर० साक्षी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एड्०, योगविद्, साहित्यालंकार, आयुर्वेदरत्न)

भारतीय चिन्तनधारामें 'राम' शब्द अतिप्राचीन है। देशकी सभी भाषाओं, उपभाषाओं एवं बोलियोंमें राम-साहित्य किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध होता है। अब तो भारतके बाहर अनेक देशोंमें भी राम-साहित्य जोरोंसे प्रचलित हो रहा है। विश्वके सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ वेदोंमें भी राम शब्दका प्रयोग हुआ है।

रामके अर्थपर विचार करते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। जिस निगूढ़ तत्त्वको वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, शास्त्र भी कठिनाईसे विज्ञापित कर पाते हैं, उसे लोकमानसने कैसा आत्मसात् कर लिया है। इसमें क्रमशः अन्तर्यामी राम, अवतारी राम, एकेश्वर राम और ब्रह्मरामका स्वरूप स्पष्ट है।

लोक-मानसमें जो वस्तु पड़ जाती है, वह सुदीर्घ-कालतक अपने सरलतम रूपोंमें पड़ी रहती है। रामकी उपासना गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास आदिकी है। ब्रह्म राम उपनिषद्, वेदान्तमें चित्रित हैं। फिर भी लोकमें जो महत्त्व अवतारी रामको मिला वह अन्यकी अपेक्षा सरल, सहज एवं बोधगम्य है। उसीके सम्बन्धमें गोस्वामीजी कहते हैं—

**जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥**
**तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥**
(रा० च० मा० १। १२०। ३-४)

ईश्वरके अवतारके इसी कारणकी पुष्टि गीताद्वारा भी हो जाती है—

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥**
**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**
(गीता ४। ७-८)

प्रभुके इसी हितकारी स्वरूपकी पूजा-अर्चना लोक करता आ रहा है। प्रभुके गुण तो अनेक हैं, उन्हें अनिर्वचनीय कहा गया है। कबीरदास इस प्रकार कहते हैं—

* नरसिंहपुराणकी सभी प्रतियोंमें ये वचन नृसिंहके नहीं साक्षात् चतुर्भुज विष्णुके ही हैं। अतः अधिक महत्त्वके हैं—सं०

**धरती सब कागद करौं लेखणि सब बनराइ।**
**सात समुंद की मसि करौं तब हरिगुण लिखा न जाइ॥**

प्रभुका लोक-रक्षक स्वरूप कितना आवश्यक है! वर्तमान परिस्थितियोंमें कितना प्रासंगिक है! यह बढ़ते हुए जीवन-संघर्ष, नैतिक मूल्योंमें गिरावट, सर्वत्र बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, पापाचार, व्यभिचार, बलात्कार, अराजकता, स्वार्थपरता, व्यावसायिक अनैतिकता, अनुशासनहीनता, मार-धाड़, हड़ताल, पड़ताल, चोरी-डकैती, रिश्वत, अनाचार, अत्याचार, सिफारिश, खुशामद आदि अनेक अपमूल्योंको देख स्थितिका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। इन्द्रिय-संयम नहीं है। खान-पान ठीक नहीं है। जनसंख्या लगातार बढ़ रही है। समस्याएँ सुरसा-सा मुँह फाड़े खड़ी हैं। सीमाओंपर खतरे बढ़ रहे हैं, फिर भी मनुष्य नहीं चेत रहा है, यही आश्चर्य है।

रामका जीवन सम्पूर्णतया लोक-संग्रहीका जीवन है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा, व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्रके लिये हितकारी है। उनके परिवारसे नियोजित परिवारकी प्रेरणा सहज मिल जाती है। वनचारी कोल, भील, किरात, केवट, शबरी आदि अनेक निम्न जातियोंसे उनका अनुराग आदर्शकी स्थापनाका स्पष्ट संकेत है। वन-जीवनके प्रति उनकी ललक वनोंको आरक्षणका स्पष्ट सन्देश है। परिवारके सभी आदर्श सम्बन्धोंकी स्थापना बिखरते हुए परिवारोंके लिये बहु-मूल्यवती प्रेरणा है। भरत, राम, लक्ष्मण, हनुमान्‌का चरित्र वर्तमान पदलोलुप शासकोंको आत्मग्लानि उत्पन्न करनेमें पूर्ण सक्षम है। रामका चरित्र कितना दिव्य है कि उन्हें अपने शत्रु रावणके प्रति भी हृदयमें सोच है। वे कहते हैं—

**ऐसे वीर की पृथ्वी पर से उठ जानेमें हानी है।**
**यह मानवता की लक्ष्मण सबसे दुखद कहानी है॥**

रामका चरित्र एक साथ लोक-परलोक, व्यक्ति-समाज सभीका पथप्रदर्शक है। अवश्य ही आजके जीवन-मूल्योंमें परिवर्तन आ गया है तो भी व्यक्तिका चरित्र सर्वोपरि होता है। उसके अभावमें देश पतनके गर्तमें चला जायेगा। आज रामचरित्रकी, रामचरित-मानसकी व्याख्या आधुनिक चारित्रिक आवश्यकताके दृष्टिकोणसे होनी चाहिये। उनके चरित्रकी अलौकिकता वृद्धों, संन्यासियों, मुमुक्षुओंके उपयोगकी वस्तु है। वे ही उसकी गहराईका आस्वाद भी लेनेमें सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त भी जीवन-जगत्‌के अनेक सूत्र रामके चरित्रमें ऐसे हैं, जो जीवनके अनेक प्रसंगोंमें प्रेरणा देते हैं। यही कारण है कि उत्तरभारत, मध्यभारत और जहाँ-जहाँ भी रामसाहित्यके प्रेमी हैं, रामनवमीपर्व बड़े धूम-धामसे मनाया जाता है—

यह पर्व चैत्र माह, शुक्लपक्षकी नवमीको मनाया जाता है। इसी दिन दोपहरमें राजा दशरथके पुत्र-रूपमें अयोध्यामें भगवान् श्रीरामने अवतार लिया था। रामप्रतापसे सभी कुछ अनुकूल हो गया था। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

**नौमी तिथि मधु मास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता॥**
**मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥**
(रा० च० मा० १। १९०। १)

हम रामोपासकोंको चाहिये कि इस तिथिको श्रीरामजन्मोत्सव परम श्रद्धा एवं उल्लासके साथ मनायें। इससे रामालोक हमारे अन्तःकरणको आलोकित करेगा।

हम पूरी श्रद्धाभक्तिसे अपनेमें ही श्रीरामके आचरणको उतारनेका प्रयत्न करें। फिर तो आसुरभाव स्वतः शनैः-शनैः कम होता जायेगा और रामकृपा बढ़ती जायेगी। रामराज्यका सुख अनुभवमें आने लगेगा। रामनामके स्मरणके साथ-साथ सदाचरण, सत्कर्मोंमें जुटे रहें। उसके प्रचार-प्रसारको ही अपना पुनीत कर्तव्य समझें। तभी हमारा श्रीरामनवमी-उत्सव मनाना सार्थक होगा।

# गीताका कर्मयोग—६०

## [ श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या ]

( परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

[ वर्ष ५७ अङ्क १२, पृष्ठ-संख्या ९५१ से आगे ]

*सम्बन्ध*—*कर्म, अकर्म और विकर्म—इन तीनोंमें विकर्म तो करना ही नहीं है और कर्मको अकर्म बनाना है। इसलिये कर्म करते हुए भी वह अकर्म कैसे बन जाय—इसका भगवान् अगले पाँच श्लोकोंमें ( उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतकमें ) विस्तारसे विवेचन करते हैं।*

*पहले अगले दो श्लोकोंमें भगवान् कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाले अर्थात् कर्मोंका तत्त्व जाननेवाले सिद्ध कर्मयोगी महापुरुषका वर्णन करते हैं।*

श्लोक—

**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।**
**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥१९॥**

*भावार्थ*—कामनाओंकी उत्पत्ति संकल्पसे होती है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषमें संकल्प भी नहीं रहता, फिर कामनाओंका तो कहना ही क्या है; उसके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ कामनाके संकल्पसे रहित होती हैं। उसकी कोई भी क्रिया अपने लिये नहीं होती, अपितु संसार-मात्रके हितके लिये होती है। कर्मोंका स्वयंके साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं, इसलिये अपने लिये कुछ करना नहीं है—इस ज्ञानके द्वारा उसके सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं। वर्तमानके कर्म ही नहीं, सञ्चितकर्म भी सर्वथा भस्म हो जाते हैं। प्रारब्धकर्म अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें उसके सामने आते हैं; परन्तु उनसे सुखी या दुःखी न होनेके कारण वे भी एक प्रकारसे भस्म हो जाते हैं। सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कर्मोंसे निर्लिप्त रहनेवाले कर्मयोगीकी महिमा गाते हुए भगवान् कहते हैं कि उसे ज्ञानिजन भी पण्डित ( बुद्धिमान् ) कहते हैं; क्योंकि वह सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है। अतः वह कर्मयोगी ही वास्तवमें बुद्धिमान् है।

*अन्वय*—**यस्य, कामसंकल्पवर्जिताः, सर्वे, समारम्भाः, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्, तम्, बुधाः, पण्डितम्, आहुः॥१९॥**

*पद-व्याख्या*—**यस्य कामसंकल्पवर्जिताः**—जिसके कर्म कामनाके संकल्पसे रहित हैं। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी स्मृति 'स्फुरणा' कहलाती है। जिसकी स्मृति आयी, उस वस्तुमें सत्ता और प्रियता होना संकल्प है। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह कामना है। कामनाओंकी उत्पत्ति संकल्पसे होती है—**'संकल्पप्रभवान् कामान्'** ( गीता ६। २४ )। कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें कामनाका मूल—यह संकल्प रहता ही नहीं। संकल्प न रहनेसे कामनाका मूलोच्छेद हो जाता है। इसलिये उसे यहाँ कामनाके संकल्पसे रहित बतलाया है।

कामनाका संकल्प कर्मका बीज है। कामनाका संकल्प न रहनेपर कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्म-का कर्मत्व नहीं रह जाता, अतः वे कर्म बाँधनेवाले नहीं होते। सिद्ध महापुरुषमें कामनाका संकल्प न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते। उसके द्वारा लोक-संग्रहार्थ सम्पूर्ण कर्म होते हुए भी वह उन कर्मोंसे स्वतः सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

मोटरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—मोटरके गैरेजमें खड़ी रहनेपर न इंजन चलता है और न पहिये चलते हैं, २—मोटर चालू करनेपर

इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते, ३—मोटरको वहाँसे रवाना करनेपर इंजन भी चलता है और पहिये भी चलते हैं, ४—निरापद ढालवाँ मार्ग आनेपर इंजनको बंद कर देते हैं और पहिये चलते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यकी भी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—न कामना होती है और न कर्म होता है; २—कामना होती है, पर कर्म नहीं होता; ३—कामना भी होती है और कर्म भी होता है; ४—कामना नहीं होती और कर्म होता है।

मोटरकी सबसे उत्तम ( चौथी ) अवस्था यह है कि इंजन न चले और पहिये चलते रहें अर्थात् तेल भी खर्च न हो और रास्ता भी तय हो जाय। इसी प्रकार मनुष्यकी सबसे उत्तम अवस्था यह है कि कामना न हो और कर्म होता रहे। ऐसी अवस्थावाले मनुष्यको ज्ञानिजन भी पण्डित कहते हैं।

**सर्वे समारम्भाः—सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म हैं।**

**'समारम्भाः'** पदका यह भाव है कि कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषके द्वारा प्रत्येक कर्म सुचारुरूपसे, साङ्गोपाङ्ग और तत्परतापूर्वक होता है। दूसरा एक यह भाव भी है कि उसके कर्म शास्त्रसम्मत होते हैं। उसके द्वारा करनेयोग्य कर्म ही होते हैं। जिससे किसीका अहित होता हो, वह कर्म उससे कभी नहीं होता।

**'सर्वे'** पदका यह भाव है कि उसके द्वारा होनेवाले सब-के-सब कर्म कामनाके संकल्पसे रहित होते हैं। कोई-सा भी कर्म संकल्प-सहित नहीं होता। प्रातः उठनेसे लेकर सोनेतक शौचस्नान, खाना-पीना, पाठ-पूजा, जप-चिन्तन, ध्यान-समाधि आदि शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म संकल्प-रहित ही होते हैं।

**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्—**( ऐसा जो ) ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध कर्मोंवाला ( पुरुष है )।

कर्मोंका सम्बन्ध 'पर'-( शरीर-संसार-) के साथ है, 'स्व'-( स्वरूप-) के साथ नहीं; क्योंकि कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है—इस तत्त्वको ठीक-ठीक जानना ही 'ज्ञान' है। इस ज्ञानरूप अग्निसे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंमें फल देनेकी ( बाँधनेकी ) शक्ति नहीं रहती।*

वास्तवमें शरीर और क्रिया—दोनों संसारसे अभिन्न हैं; पर 'स्वयं' सर्वथा भिन्न होता हुआ भी भूलसे इनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। जब महापुरुषका अपने कहलानेवाले शरीरके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता, तब जैसे संसारमात्रसे सब कर्म होते हैं, वैसे ही उसके कहलानेवाले शरीरसे सब कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्मोंसे निर्लिप्तताका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके वर्तमान कर्म ही नष्ट नहीं होते, अपितु संचित कर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध-कर्म भी केवल सुखदायी या दुःखदायी परिस्थितिके रूपमें उसके सामने आकर नष्ट हो जाते हैं; परन्तु फलसे असङ्ग होनेके कारण वह उसका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी सुखी या दुःखी नहीं होता। इसलिये प्रारब्ध-कर्म भी अस्थायी परिस्थितिमात्र उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं।

**तम् बुधाः पण्डितम् आहुः—**उसे ज्ञानिजन भी पण्डित ( बुद्धिमान् ) कहते हैं।

जो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके परमात्मामें लगा हुआ है, उस पुरुषको समझना तो सुगम है, पर जो कर्मोंसे किञ्चित् भी लिप्त हुए बिना तत्परतापूर्वक कर्म कर रहा है, उसे समझना कठिन है। सन्तोंकी वाणीमें आया है—

* 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' ( गीता ४। १६ ) तथा 'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे' ( गीता ४। ३२ ) पदोंमें भी यही बात कही गयी है।

त्यागी शोभा जगतमें करता है सब कोय।
हरिया गृहस्थी संतका भेदी बिरला होय॥

तात्पर्य यह है कि संसारमें ( बाहरसे त्याग करनेवाले ) त्यागी पुरुषकी महिमा तो सब गाते हैं, पर गृहस्थीमें रहकर सब कर्तव्य कर्म करते हुए भी जो निर्लिप्त रहता है, उस ( भीतरका त्याग करनेवाले ) पुरुषको समझनेवाला कोई विरला ही होता है।

जैसे कमलका पत्ता जलमें ही उत्पन्न होकर और जलमें रहते हुए भी जलसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही कर्मयोगी कर्मयोनि-( मनुष्य-शरीर- ) में ही उत्पन्न होकर और कर्ममय जगत्‌में रहकर कर्म करते हुए भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।* कर्मोंसे लिप्त न होना कोई साधारण बुद्धिमानीका काम नहीं है। पिछले ( अठारहवें ) श्लोकमें भगवान्‌ने ऐसे कर्मयोगीको 'मनुष्योंमें बुद्धिमान्' कहा है और यहाँ कहा है कि उसे ज्ञानिजन भी पण्डित अर्थात् बुद्धिमान् कहते हैं। भाव यह है कि ऐसा कर्मयोगी पण्डितोंका भी पण्डित, ज्ञानियोंका भी ज्ञानी है।†

# महाभागवत श्रीज्योतिपन्त

( १ )

अठारहवीं शताब्दिकी बात है। महाराष्ट्र-प्रान्तके सतारा जिलाके विटे नामक गाँवमें गोपालपन्त नामक एक गरीब ब्राह्मण ग्रामके बालकोंको पढ़ाकर अपना काम चलाते थे। गोपालजी पढ़ानेमें बड़े ही चतुर थे। उस समय विश्वविद्यालयोंकी परीक्षा तो नहीं थी, परंतु इन त्यागी ज्ञानी गुरुओंसे शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी जिस यथार्थ योग्यताको पाते थे, आजके डिग्रीधारी लोग अपने नामके पीछे कई अक्षर जोड़ लेनेपर भी उस योग्यतासे प्रायः वञ्चित ही रहते हैं। उनके सदाचार, शील, तप, धर्मपरायणता, सरलता, श्रद्धा, संयम आदिकी तुलनामें तो आजका विद्यार्थी-समुदाय रखा ही नहीं जा सकता। पन्तजीकी पाठशालासे भी ऐसे ही बड़े-बड़े विद्वान् निकले थे।

पन्तजीके एक लड़का था, जिसका नाम था ज्योतिपन्त। पण्डितजी सभी लड़कोंको बड़े परिश्रमसे पढ़ाते थे, फिर अपने पुत्रके लिये तो कहना ही क्या था? वे जी-जानसे परिश्रम करके उसे अपनेसे बढ़कर विद्वान् बनाना चाहते थे, परंतु दैवकी इच्छा कुछ और ही थी। ज्योतिपन्तकी उम्र बीस वर्षकी पूरी हो गयी, परंतु पढ़नेके नामपर उसने सिवा राम-नाम लेनेके और कुछ भी नहीं पढ़ा। ज्योतिपन्तका यज्ञोपवीत-संस्कार होनेपर पिताने लगातार छः महीनेतक उसे तीनों समय संध्याकी शिक्षा दी, परंतु उन्हें गायत्री मन्त्र भी याद नहीं हुआ। लड़केकी ऐसी मन्दबुद्धि देखकर गोपालपन्तको जो दुःख होता था, उसका अनुमान कोई वैसा ही विद्वान् पिता कर सकता है। एक दिन पन्तजी उद्विग्न होकर विचार कर रहे थे कि ऐसे पुत्रसे तो पुत्रहीन रहना अच्छा है, यह मूर्ख तो मेरी विद्वत्तापर कलङ्क लगानेवाला होगा। इतनेमें ही ज्योति उनके सामने आ गया, उसे देखकर पण्डितजीको दुःखके मारे गुस्सा आ गया और उन्होंने 'इस घरमें रहना है तो विद्या पढ़कर आओ' कहकर उसे घरसे निकाल दिया। इस समाचारसे ज्योतिकी माताको बड़ा

* निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी॥ ( अष्टावक्रगीता १८। ६१ )
'मूढ़ पुरुषकी निवृत्ति भी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेवाली होती है और ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति-रूप फलको देनेवाली होती है।'

† गृहेषु पण्डिताः केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः। सभायां पण्डिताः केचित्केचित्पण्डितपण्डिताः॥

दुःख हुआ, उसने रोकर पतिसे कहा कि 'स्वामिन् ! आपने यह क्या किया ? मेरा ज्योति मूर्ख है, पर मेरे तो हृदयका वही एकमात्र अवलम्बन है। इकलौते लड़केको घरसे निकालते आपको दया नहीं आयी, वह कहाँ गया होगा, क्या करता होगा, उसे कौन खानेको देगा ? आप पता लगाकर उसे लाइये। उसे आँखसे देखे बिना मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगी।' इतना कहकर वह रोने लगी। पत्नीकी दशा देखकर और उसकी बातें सुनकर गोपालजीका हृदय भी पसीज गया, उनकी आँखोंसे आँसूकी बूँदें टपक पड़ीं, वे पुत्रको खोजने निकले, परंतु कहीं पता नहीं लगा। उन्हें क्या मालूम था कि मेरी यह निष्ठुरता ही पुत्रके परम कल्याणका कारण बनेगी !

( २ )

ज्योतिपन्त घरसे निकाला जाकर अपने मित्रोंके पास आया और उन्हें साथ लेकर जंगलमें गया। गाँवके बाहर श्रीगणेशजीका एक जीर्ण मन्दिर था। श्रीगणेशजीके दर्शनकर ज्योतिपन्तने सरल विश्वास और दृढ़ निश्चयके साथ कहा—'अहा ! ये तो विद्याके दाता श्रीगणेशजी ही मिल गये। अब क्या चिन्ता है ? इनसे चौदह विद्या और चौंसठ कलाएँ माँग लेंगे। यह दयालु क्या इतनी-सी दया हमलोगोंपर नहीं करेंगे।' लड़कोंने भी ज्योतिपन्तकी बातका समर्थन किया। तब ज्योतिपन्तने कहा—'अच्छा तो अब श्रीगणेशजीकी कृपा न होनेतक हमलोगोंको परम श्रद्धाके साथ यहीं बैठकर उनकी आराधना करनी चाहिये।' साथियोंने कहा कि 'यह हमसे न होगा, तेरी इच्छा हो तो तू चाहे यहाँ बैठा कर, हमलोग तो यहाँ न रहेंगे। पहले ही बहुत देर हो गयी है; यदि थोड़ा-सा भी समय और बीत गया तो हमारे माता-पिता बहुत नाराज होंगे'—यों कहकर वे सब वहाँसे जाने लगे। ज्योतिपन्तने उन लोगोंको बहुत समझाया-बुझाया, परंतु किसीने उसकी बात नहीं मानी। अन्तमें ज्योतिपन्तने कहा कि 'भाइयो ! तुमलोग जाना ही चाहते हो तो जाओ, मैं तो यहीं बैठूँगा। जबतक श्रीगणेशजी दर्शन नहीं देंगे, यहीं बैठा रहूँगा। परंतु इस मन्दिरका दरवाजा बंद करके उसे चूने-मिट्टीसे लीप दो, जिससे बाहरका कोई आदमी मुझे देख न सके। और गाँवमें जाकर मेरे सम्बन्धमें किसीसे कुछ कहना नहीं।' लड़कोंने प्रतिज्ञा की और मन्दिरका दरवाजा बंद करके उसे भलीभाँति लीप-पोतकर सब अपने-अपने घरोंको चले गये। किसीने भी ज्योतिपन्तके बारेमें किसीसे कुछ भी नहीं कहा।

पुत्रका पता न लगनेसे माता-पिताके क्लेशका पार नहीं है। पुत्र-वियोगमें दोनोंके दिन-रात रोते बीतते हैं। लगातार छः दिन हो गये, घरमें चूल्हा नहीं जला। छठी रातको गोपालजीको स्वप्नमें श्रीशिवजीने दर्शन देकर कहा, 'तुमलोग चिन्ता मत करो। मेरी कृपासे तुम्हारा पुत्र बड़ा ही भक्त और यशस्वी होगा।

इधर छः दिनोंसे ज्योतिपन्त मन्दिरमें एकासनपर बैठा श्रीगणेशजीका ध्यान-स्तवन कर रहा है। छः दिनोंमें उसे भूख-प्यासने बिल्कुल नहीं सताया। वृत्तियाँ पूर्णरूपसे श्रीगणेशजीमें लग गयीं। सातवें दिन चतुर्भुजधारी श्रीगणेशजी महाराजने साक्षात् प्रकट होकर अपना वरदहस्त ज्योतिपन्तके मस्तकपर रखकर उससे मनमाना वर माँगनेको कहा। ज्योतिपन्त चेतना लाभकर भगवान् श्रीगणेशजीके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला कि 'प्रभो ! पहले तो मेरी विद्यालाभकी इच्छा थी, परंतु अब तो मैं केवल तत्त्वज्ञान और निष्काम प्रेमा-भक्तिकी भीख चाहता हूँ, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। हे कृपासागर ! मेरी इतनी-सी इच्छा आप पूर्ण कर दें।' श्रीगणेशजी ज्योतिपन्तकी प्रार्थना सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए और उसकी जीभपर 'ॐ' लिखकर उससे कहने लगे 'तेरी

पूर्व इच्छानुसार तुझे विद्या तो दे दी गयी। तेरा दूसरा मनोरथ भी सफल होगा; परंतु उसके लिये अभी कुछ समय लगेगा। कुछ दिनों बाद तुझे काशी जाना पड़ेगा। वहाँ छः महीने अनुष्ठान करनेपर श्रीव्यासजीके द्वारा गङ्गाजीमें तुझे मन्त्रकी प्राप्ति होगी, तब तेरी कामना पूर्ण होगी। मेरी बातपर दृढ़ विश्वास रखना और किसी समय कोई भी कार्य हो तो मुझे स्मरण करना, तुम्हारे स्मरण करते ही मैं दर्शन दूँगा। अब तुम अपने घर जाओ।'

विद्या प्राप्तकर ज्योतिपन्त घर आ गया। आज माता-पिताके आनन्दका पार नहीं है। ज्योतिपन्तने माता-पिताको सारा हाल सुनाया और उसकी विद्वत्ता देखकर उन्हें उसकी बातपर विश्वास भी हो गया। गाँवके लोगोंको जब ज्योतिपन्तके विद्या पढ़कर घर आनेका समाचार ज्ञात हुआ, तब लोगोंने उनके घर आ-आकर बधाइयाँ दीं। उन लड़कोंको बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ, जो ज्योतिपन्तकी बात न मानकर जंगलसे लौट आये थे।

( ३ )

ज्योतिपन्तके मामा महीपति पूनामें पेशवाके एक प्रधान कार्यकर्ता थे और सम्पत्तिवान् पुरुष थे। ज्योतिपन्तकी माताने लड़केको काम सीखनेके लिये उसके मामाके पास भेज दिया। बड़े आदमीके यहाँ अभिमान गरीब सम्बन्धीकी कद्र नहीं होने देता। इसीके अनुसार महीपतिने संकोचवश भांजे ज्योतिपंतको वहाँ रख तो लिया, पर उसे नौकरी दी चार रुपये माहवारी-की ही। उस जमानेमें चार रुपये कम भी नहीं थे, अतः ज्योतिपन्तका काम मजेमें चलने लगा।

दफ्तरमें हिसाब-किताबका काम बहुत चढ़ गया था। पेशवाने तीन दिनके अंदर सारे बही-खाते ठीक कर देनेका कड़ा हुक्म दे दिया। काम इतना अधिक था कि दफ्तरके सारे कर्मचारी लगकर भी उसे एक महीनेसे कममें नहीं कर सकते थे। परंतु पेशवाकी आज्ञापर कुछ बोलनेकी हिम्मत भी किसीमें नहीं थी। महीपतिके चिन्ताका पार नहीं रहा। ज्योतिपन्तने मामाकी यह दशा देख, उससे कहा—'आप चिन्ता न करें, तीन दिनके अंदर सारे बही-खाते ठीक हो जायँगे। आप किसी एकान्त कमरेमें दावात, कलम, कागज, बही-खाते, बैठनेके लिये अच्छी गद्दी, तकिया, रोशनी, शुद्ध जल और फलाहारका सारा सामान रखवाकर कमरा बन्द करवा दें, तीन दिनमें सारा हिसाब लिखा जानेपर मैं इशारा कर दूँगा; तब आप किवाड़ खुलवा दीजियेगा।' इस बातपर लोगोंने बड़ा मजाक उड़ाया, परंतु चिन्तातुर महीपतिने भगवान्पर भरोसाकर भांजेके कथनानुसार एक अलग कमरेमें सब व्यवस्था कर दी और उस कमरेमें चले जानेपर दरवाजा बंद कर दिया। ज्योतिपन्तने अंदर जाकर विधिपूर्वक भगवान् श्रीगणेशजीका पूजन करके उन्हें स्मरण किया। तत्काल श्रीगणेशजीने प्रकट होकर स्मरण करनेका कारण पूछा। ज्योतिपन्तने पूजन-प्रार्थना करनेके बाद सारे समाचार सुनाकर हिसाब लिख देनेकी प्रार्थना की। भक्तभयहारी भवानीनन्दन लिखनेको बैठ गये और उसकी इच्छानुसार तीन दिनमें सारा हिसाब लिखकर तैयार कर दिया और अन्तर्धान हो गये।

इधर बाहर लोगोंने महीपतिको समझाकर कहा कि 'भला, इतना बड़ा काम वह अनुभवशून्य बालक तीन दिनमें कैसे कर देगा ? आपने बच्चेकी बातपर विश्वास-कर बड़ी भूल की, कहीं बालक अंदर-ही-अंदर दम घुटकर मर जायगा तो व्यर्थकी ब्रह्महत्या लगेगी और आपकी बहन सदाके लिये दुखी होकर आपको शाप देगी। भलाई इसीमें है कि आप दरवाजा खोलकर उसे बाहर निकाल दीजिये और फिर हिसाब लिखवानेका दूसरा प्रबन्ध सोचिये।

तीन दिन हो चुके थे, ज्योतिपन्त दरवाजा खोलनेको कहना ही चाहता था, इतनेमें उसने उपर्युक्त बातचीत भी सुन ली और पुकारकर तुरंत ही दरवाजा खोलवा लिया। सारे बहीखाते पूरे तैयार देखकर सब लोग दंग रह गये। अक्षर तो इतने सुन्दर और आकर्षक थे कि लोग एकटक लगाये उनकी ओर देखने लगे। महीपति बहियोंको लेकर हर्षोत्फुल्ल हृदयसे दरबारमें पहुँचे। पेशवाने आश्चर्यचकित हो महीपतिसे काम करनेवालेका नाम पूछा और उसे दरबारमें बुलानेकी आज्ञा दी। महीपतिने घर आदमी भेजकर ज्योतिपन्तको राजकीय पोशाकमें आनेके लिये कहलवा दिया। ज्योतिपन्त दरबारी पोशाक न पहनकर अपने नित्यके मामूली वेषमें दरबारमें आया और पेशवाका यथायोग्य अभिनन्दन करके नम्रताके साथ एक ओर खड़ा हो गया। उसके निर्मल तेजस्वी चेहरेको देखकर सभी आश्चर्यमें डूब गये। पेशवाने बड़े प्रेमसे उसे अपने पास बुलाकर परिचय पूछा। ज्योतिपन्तने विनम्र मधुर स्वरोंमें कहा—'राजन्! मैं श्रीमान् महीपतिजीकी बड़ी बहनका लड़का हूँ, मेरा नाम ज्योतिपन्त है, माताकी आज्ञासे कुछ काम करने मामाजीके यहाँ आया हूँ, और उनके आज्ञानुसार काम करता हूँ। वे कृपापूर्वक मुझे चार रुपये मासिक देते हैं, जिससे बड़े आनन्दसे मेरा काम चल जाता है।' बालककी सच्ची सरल वाणी सुनकर पेशवाने प्रसन्न होते हुए फिर पूछा—'ज्योतिपन्त! तीन ही दिनमें इतना बड़ा काम कैसे हो गया? इतने सुन्दर हस्ताक्षर कैसे बन गये? हमने तो ऐसे अक्षर आजतक कभी नहीं देखे, सच बतलाओ, इसमें क्या रहस्य है?' ज्योतिपन्तने कहा—'महाराज! मेरी प्रार्थनापर भगवान् श्रीगणेशजीने सारा हिसाब ठीक करके लिख दिया और ये उन्हींके हस्ताक्षर हैं।' इसके बाद पेशवाके आग्रह करनेपर ज्योतिपन्तने श्रीगणेशजीकी कृपा प्राप्त करनेका सारा हाल उन्हें सुनाया। जिसे सुनकर पेशवाको बड़ा ही आनन्द हुआ। पेशवाने ज्योतिपन्तको सुयोग्य समझकर अपने हाथसे अधिकारकी पोशाक और राजकी मोहर देकर उसे पुरन्दर-किलेकी रक्षाका भार सौंप दिया। आज ज्योतिपन्तकी इज्जत महीपतिसे बढ़ गयी। अब महीपति भी भांजेके गौरवसे अपनेको गौरवान्वित समझने लगे। भोजनके समय मामाने उसे अपने पास बैठाकर स्वर्णके पात्रोंमें भोजन करवाया। भगवान्‌के प्रेमका पात्र सबके आदरका पात्र कैसे न हो?

( ४ )

ज्योतिपन्त अधिकार प्राप्तकर पुरन्दर-किलेपर पहुँचे और थोड़े ही दिनों बाद अपने माता-पिताको भी उन्होंने वहाँ बुलवा लिया और एक नम्र सेवककी भाँति भक्ति-भावसे उनकी सेवा करने लगे। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। उन दिनों उत्तरीय भारतपर प्रायः पठानोंके हमले हुआ करते थे। पेशवाने भी उनका मुकाबिला करनेके लिये तैयारी कर रक्खी थी। एक बार पेशवाकी फौजके साथ ज्योतिपन्तको भी लड़ाईमें जाना पड़ा। कुछ दिनों बाद एक रातको ज्योतिपन्तने स्वप्नमें यह आदेश सुना कि 'अब तुम्हें भगवान्‌की विशेष दया प्राप्त होगी, अतएव तुम यहाँ एक क्षण भी न ठहरकर काशी चले जाओ।' दूसरे ही दिन ज्योतिपन्तने पेशवासे हमेशाके लिये नौकरीसे मुक्त होनेकी प्रार्थना की और उनसे आज्ञा प्राप्तकर अपनी सारी पूँजी गरीबोंको बाँटकर एक ब्राह्मणको साथ ले काशी चले गये। वहाँ उनका त्यागमय जीवन हो गया। वे प्रतिदिन प्रातः-कालसे लेकर मध्याह्नके बारह बजेतक मणिकर्णिकामें कमरतक जलमें खड़े रहकर मन्त्र-जाप किया करते। तदुपरान्त मधुकरी माँग लाते और उसका भगवान्‌को भोग लगाकर प्रसाद ग्रहण करते। इस प्रकार छः महीने निर्विघ्न बीत गये। एक दिन नित्यक्रमानुसार ज्योतिपन्तजी श्रीगङ्गाजीमें खड़े जप कर रहे थे कि

क म्लेच्छने आकर उनके शरीरपर पानीके छींटें डाल
ये । वे पुनः स्नान करके जप करने लगे । उस
रुषने फिर छींटे डाले, तब ज्योतिपन्तजी जरा आवेशके
थ उससे बोले कि 'देखो, इस तरह किसीके
नुष्ठानमें विघ्न डालना उचित नहीं है ।'

ज्योतिपन्तजीका यह सात्त्विक प्रकोप देखकर म्लेच्छ
सने लगा और तत्काल ही भगवान् वेदव्यासके रूपमें
दल गया । ज्योतिपन्तने म्लेच्छरूपमें आये हुए भगवान्
यासको पहचानकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ।
यासजीने आज्ञा दी कि 'वत्स ! अब तुम्हारा अनुष्ठान
र्ण हो गया, आज रातको व्यास-मण्डलमें जाकर सो
हो, मैं तुम्हें वहाँ श्रीमद्भागवत लाकर दूँगा, जिसके
रायणसे तुम्हें यथार्थ तत्त्वज्ञान और प्रेमाभक्तिकी प्राप्ति
ोगी । इतना कहकर और **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**
स द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश देकर भगवान् व्यास
न्तर्धान हो गये ।

( ५ )

रातको ज्योतिपन्तजी व्यास-मण्डलमें जाकर सो रहे,
यासजीने बारहों स्कन्ध भागवत लाकर उनके सिरहाने
ख दिया । प्रातःकाल उठते ही उन्होंने ग्रन्थके दर्शन
र साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और मणिकर्णिकामें स्नान
रनेके उपरान्त ज्ञानमण्डपमें बैठकर प्रातःकालसे
कर सन्ध्यापर्यन्त श्रीमद्भागवतका पारायण आरम्भ कर
या । श्रीमद्भागवतके नित्य पारायण और अध्ययनसे
योतिपन्तजीका तप और तेज अत्यन्त बढ़ गया । एक
न भगवान् श्रीविश्वनाथ बूढ़े ब्राह्मणके रूपमें जाकर
योतिपन्तजीके सामने खड़े हो, उनका भागवत-पारायण
नने लगे । भगवान् शङ्करके प्रभावसे ज्योतिपन्तजीकी
ह्वा लड़खड़ा गयी और उनसे अस्पष्ट उच्चारण होने
लगा । भगवान् भोलेनाथने विनोदपूर्वक कहा 'पण्डितजी महाराज ! क्या रोज इसी तरह पारायण करते हो ?' उनका यह प्रश्न सुनते ही ज्योतिपन्तजीने बूढ़े बाबाको पहचान लिया और उठकर बड़े ही सम्मान और भक्तिके साथ अश्रुपूर्ण-नेत्र हो वह भगवान्के चरणोंपर गिर पड़े । श्रीशिवजीने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि 'अब तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया, तुम्हें यथार्थ तत्त्वज्ञान और प्रेमा-भक्तिकी प्राप्ति हो गयी, अब तुम्हें किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है । तुम मेरी आज्ञासे समस्त पुरुषार्थोंके मूल कारण भगवान्के भजन-मार्गमें लोगोंको लगाओ और उनका कल्याण करो ।' इतना कहकर बाबा विश्वनाथ अन्तर्हित हो गये ।

ज्योतिपन्तजीकी इस स्थितिकी बात काशीमें फैल गयी और वहाँके विद्वानोंने भगवान् व्यासप्रदत्त श्रीमद्भागवत-ग्रन्थको सिंहासनपर विराजितकर उनकी सवारी निकाली और ज्योतिपन्तको 'महाभागवत' की उपाधि प्रदान की । इसके बाद ज्योतिपन्तजी महाराष्ट्र लौट आये । वहाँ उन्होंने जीवनभर जगह-जगह घूम-घूमकर भगवान्की भक्तिका प्रचार किया, अनेकों मन्दिर बनवाये और लोगोंको भक्तिमार्गमें लगाया । अन्तमें विक्रम-संवत् १८४५, कीलक नामक संवत्सरकी मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशीको इस नश्वर संसारको छोड़कर ज्योतिपन्तजी परम धामको पधार गये ।

मराठीमें ज्योतिपन्तजीकी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य-परक बहुत रचनाएँ मिलती हैं । श्रीमद्भागवतके बारह स्कन्धोंपर आपने ओवी-छन्दोंमें टीका लिखी थी, पर इस समय वह पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । कहा जाता है कि भगवान् व्यासदेवजीके द्वारा दिया हुआ श्रीमद्भागवत-ग्रन्थ 'चिचगेर' ग्राममें अब भी ज्योतिपन्तजीके वंशजोंके पास है ।

# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## आतिथ्यका आदर्श

कुछ समय पूर्वकी बात है—मैं अपनी पत्नीसहित राजकोट गया था। वहाँ जाकर हमलोग एक परिचित मित्रके पास रुके। पत्नीको एक डॉक्टरको दिखाना था। हम जब चले थे, तब वर्षाके कोई चिह्न न थे इसलिये वर्षासे रक्षा पानेके लिये हमने कोई साधन साथ नहीं लिया था।

डॉक्टरके यहाँ रक्तकी जाँच करानेमें समय अधिक लग गया। हम चलने लगे तो वर्षा प्रारम्भ हो गयी। मध्य मार्गमें पहुँचते-पहुँचते मूसलाधार पानी बरसने लगा। पहले तो किसी वाहनकी आशामें रहे, किंतु ऐसी वर्षामें वाहन कहाँ मिले। इसलिये पैदल चलनेके अतिरिक्त कोई उपाय ही न दीखा।

मेरी पत्नी सर्दीसे पीड़ित थीं। उसमें भी ऊपरसे भीग रही थीं। इतनेमें एक घरका दरवाजा एक बहनने खोला। मेरी पत्नीको सर्दीसे काँपते और छींकते हुए देखकर उसने हमें घरके अंदर आ जानेके लिये कहा। भगवत्प्रेरणा समझकर हम अंदर चले गये। उसने फर्नीचर खराब होनेकी चिन्ता किये बिना हमें आरामसे बैठनेको कहा और सोंठ डालकर चाय बनाकर दी। यहाँतक तो ठीक, परंतु जब उसने मेरी पत्नीकी सर्दीकी बीमारीवाली बात सुनी तो उसने अपनी साड़ी, ब्लाउज और पेटीकोट निकालकर मेरी पत्नीको दिये और कपड़े बदलनेकी विनय की। कपड़े बादमें पहुँचानेके लिये कह दिया। एकदम अपरिचित होते हुए भी इस प्रकारकी सेवा करनेवाली उस नारीके प्रति हम बार-बार मन-ही-मन नमन करने लगे। वर्षा बन्द होनेपर हम घर पहुँचे और दूसरे दिन कपड़े पहुँचा दिये गये। मेरे मनमें यह बात आती है कि अ भी संसारमें ऐसी सुनारियाँ हैं जो मौकेपर दूसरों हित करनेमें चूकतीं नहीं।

—प्र० अ० मांकड़ ( अखण्ड आनन्द

( २ )

## माताका अद्भुत वात्सल्य

हमारी माताजी अत्यधिक बीमार थीं। वैसे उनक शरीर देखनेमें सब प्रकारसे अच्छा दीखता था, पर अङ्गोंकी क्रिया-शक्ति ही समाप्त हो गयी थी। उनक करवट भी कोई दिलाता तभी ले पातीं। मुँहमें ग्रा दे दो तभी खा पातीं—ऐसी स्थिति थी। मेरे पित सामान्य चपरासी। बहन सब ससुराल। भाई एक वह छोटा था। माताजीकी सार-सँभालका काम मु करना पड़ता। इतना ही नहीं, रसोई भी बनानी पड़ती नौकर रखने लायक आर्थिक स्थिति नहीं थी। घरक दोनों समय यह काम करना और फिर पढ़ने भ जाना। सगे-सम्बन्धियों तथा पड़ोसियोंको मुझसे सहानु भूति तो बहुत थी, परंतु वे भी बेचारे क्या करें बर्तन और कपड़े साफ करनेको एक कामवाली मिल गयी थी, उसे थोड़ा-बहुत समय मिलता तो माताजीकी सेवा करती; नहीं तो अधिकांशमें तो कामका बोझ मेरे ही सिरपर पड़ता।

रसोईमें रोटी-साग, खीचड़ी-कढ़ी बनानेका निश्चय किया था। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें मुझे यह सब करते देखकर सबको मेरे ऊपर दया आती। हमारे घरसे दो घर छोड़कर तीसरे घरमें एक एकाकी वृद्धा रहती थीं। दोनों पैरोंमें चोट लग जानेसे वे लकड़ीके पैरोंका सहारा लेकर चलतीं। अकेली रहकर अपनी गुजर-बसर करतीं। अपना काम स्वयं कर लेतीं। हम सब उन्हें

[']माँ' कहते । एक बार उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—'[बे]टा ! तेरा दुःख मुझसे देखा नहीं जाता । मैं तेरे [घ]र आकर रसोई बना दिया करूँगी । मेरे पास समय [है] । अपने पिताजीसे कहना कि 'इतना काम माँ [क]रेगी और प्रसन्नतापूर्वक करेगी ।'

मैंने पिताजीसे कहा । पिताजी क्या बोलते । माँने [र]सोई बनाने आना प्रारम्भ किया । लकड़ीके पैरोंके [स]हारे आयें और जायँ । हमारे यहाँसे रसोई बनाकर [अ]पने घर जाकर अपनी रसोई बनावें । पिताजीने आग्रह [कि]या कि हमारे यहाँ ही अपनी रसोई बनाकर हमारे [स]ाथ ही यहीं भोजन करें । परंतु माँ माने ही नहीं । [मु]झे भी अच्छा नहीं लगता था । एक दिन मैंने [क]हा—'माँ ! मेरे बहुत पुण्योंके फलस्वरूप तुम मिली [हो], तुम यहीं भोजन करो; नहीं तो मैं भी भोजन नहीं [कर]ूँगा और रसोई भी मैं ही बनाया करूँगा ।' माँ [य]ह सुनकर गद्गद हो गयी और बोली—'बेटा ! मैं अपने [घ]र बैठी-बैठी कुछ काम तो करती नहीं हूँ, तेरी रसोई [ब]नानेमें मेरा क्या बिगड़ जाता है । तुझे देखकर जो [प्र]सन्नता होती है, वही मेरे कामका प्रत्युपकार है । मैं [अ]पने घर खाने लायक स्थितिमें हूँ, मेरे दूसरा और [क]ौन है ही ?' उनकी आँखोंमें आँसू छलक आये ! [मै]ंने कहा—'तुम मेरी माँ और मैं तुम्हारा बेटा ! माँ और [बे]टा अलग-अलग क्यों खायँ !

मेरे पिताजीके बहुत आग्रह करनेसे जो काम नहीं [हु]आ, वह मेरे शब्दोंने किया । वात्सल्यकी आनन्दा-[श्र]ुधारा नेत्रोंमें भरकर माँ बोली—'अच्छा बेटा ! मैं [र]सोई बनाऊँगी और तेरे साथ यहीं खाऊँगी ।'

माँ हमारे किसी भी सम्बन्धमें नहीं पड़ती थीं । [मा]त्र पड़ोसमें रहती थीं । मेरी परिस्थिति देखकर उनके [अ]न्तरका मातृ-वात्सल्य प्रकट हुआ ।

—अमृत लाल याज्ञिक ( अखण्ड आनन्द )

( ३ )

## गरीबीमें ईमानदारी

भ्रष्टाचार और अनीतिके इस युगमें कभी-कभी प्रतीत होता है कि सदाचार और ईमानदारी नामकी कोई चीज ही इस दुनियामें नहीं है; पर कभी-कभी जीवनमें ऐसी घटना घटित हो जाती है, जिससे यह प्रकाशमें आता है कि दुनियामें अब भी ( दालमें नमकके बराबर ही सही ) सदाचारी एवं ईमानदार व्यक्ति वर्तमान हैं और उन्हींके बलपर यह दुनिया पतनके गड्ढेमें गिरनेसे बची हुई है । ऐसी ही एक घटनाका विवरण नीचे दिया जा रहा है जो देखनेमें बहुत छोटी-सी प्रतीत होती है, पर जिसका आदर्श बहुत ही उच्च है ।

घटना १९६५ की है । मेरे पिताजीकी कटपीसके कपड़ेकी साधारण-सी दूकान है । दूकान उस मार्गपर है जो मुख्य बाजारको जाता है, अतः उत्सव एवं पर्व आदिके अवसरपर उसपर काफी चहल-पहल रहती है ।

प्रतिवर्षकी भाँति उस वर्ष भी बड़े मङ्गलके मेलेके शुभ अवसरपर बाजारमें काफी चहल-पहल थी । दोपहरमें भीड़ थोड़ी कम रही, पर शाम होनेपर हजारों लोग हनुमान्‌जीके दर्शन करनेको जा रहे थे और दर्शन करके लौट भी रहे थे । हमने भी अपनी दूकान नित्यसे जरा अच्छे ढंगसे सजायी थी । ज्यों-ज्यों शाम होती जाती थी, दूकानपर भीड़ बढ़ती जाती थी । दूकानपर मैं, भाई साहब—दो ही व्यक्ति थे; पिताजी कहीं गये हुए थे । थोड़ी देर बाद भीड़ कुछ कम हो गयी और मैं बैठकर सुस्ताने लगा । तभी देहाती-सा लगनेवाला एक वृद्ध पुरुष आया और उसने मुझसे पूछा—'आपके पास पटरा ( अंडरवियरका कपड़ा ) है ?'

मैंने उसे डेढ़ रुपये मीटरके भावका पटरा निकालकर दिखाया तो वह बोला—'भाई ! जरा सस्तावाला

दिखाओ। मैं गरीब आदमी भला इतना मँहगा कपड़ा कैसे पहन सकता हूँ ?'

मैं हँसा और बोला—'बाबा ! सब चीजोंके दाम तो तेज हो रहे हैं, फिर भला कपड़ा कैसे सस्ता रहेगा ?' फिर भी मैंने उसे सस्तावाला पटरा दिखलाया और उसके पसंद आनेपर, साढ़े चार रुपयेका चार मीटर पटरा उसे दे दिया।

तभी दो-एक ग्राहक और आ गये और मैं उनसे बातें करने लगा। इस बीच उस वृद्ध मनुष्यने एक नोट मुझे दिया और मैंने सीधे उसे गल्लेमें डाल दिया।

नये ग्राहकोंको हमारी दूकानका कपड़ा पसंद नहीं आया और वे शीघ्र ही चले गये। तब मैंने गल्ला खोला और उसमेंसे साढ़े पाँच रुपये निकालकर उस वृद्ध मनुष्यको दे दिये। रुपये अपने हाथमें लेते ही वह मुझे ऐसे देखने लगा, जैसे मैंने कोई भयंकर भूल कर डाली हो।

मैंने उसे यों घूरते हुए देखा तो कहा, 'क्यों बाबा ! क्या बात है, तुमने दस रुपयेका नोट ही तो दिया था ?'

'नहीं, मैंने दसका नोट नहीं दिया था।' उसने गम्भीर होकर कहा।

'फिर क्या सौ रुपयेवाला नोट दिया था ? मैंने कुछ व्यङ्गयके साथ मजाकके लहजेमें पूछा।

'नहीं बाबू ! न तो मैंने दसका नोट दिया था और न सौका ही। मैंने तो पाँचका नोट दिया था।'

'ऐं ! क्या कहते हो ?' मेरा मुख आश्चर्यसे खुला रह गया और उसने मेरे हाथमें पाँचवाला नोट वापस थमा दिया। फिर बोला—'हाँ बाबू ! मैंने पाँचका ही नोट दिया था।'

मुझे धनसे गरीब और हृदयसे धनी उस व्यक्तिके मनमें ईमानदारीकी ऐसी भावना देखकर आश्चर्यसे अधिक हर्ष हुआ और मैं उससे, उसके परिवार-सम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछने लगा।

पूछनेपर पता चला कि वह गाँवका एक गरीब किसान है, जो खेती-बारी करके अपने परिवारका खर्च चलाता है। उसके पुत्र तो एक भी नहीं है, पर दो पुत्रियाँ अवश्य हैं जिनके विवाहके लिये ( पैसा अर्थात् धन बचानेके लिये ) ही वह काफी किफायतशारीसे पैसे खर्च करता है।

मैंने जब पूछा, 'बाबा ! जब तुम्हें पैसेकी इतनी अधिक जरूरत है तो फिर तुमने वह नोट रख क्यों नहीं लिया ? वह तो मेरी गलतीसे तुम्हें मिला था, तुमने उसके लिये बेईमानी थोड़े ही की थी।' इसपर उस व्यक्तिने जो कहा वह समस्त मानव-जातिके लिये एक अनुकरणीय शिक्षा है।

उसने कहा—'याद रखो बाबू ! बेईमानीकी शुरुआत चाहे जिधरसे हुई हो, पर उससे लाभ उठानेवाला बेईमान ही कहा जायगा। बेईमानीका पैसा कभी भी हजम नहीं होता। तुमने जितना भी बेईमानीमें पाया है, उसका कई गुना तुमसे छूटकर रहेगा—इसे मैं जीवनमें भलीभाँति परख चुका हूँ। बेईमानीसे धन कमाकर मिठाई खानेकी अपेक्षा ईमानदारीकी सूखी रोटी खाना ज्यादा अच्छा है।'

मैंने उसे मन-ही-मन हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर नमस्कार करते हुए कहा—'धन्य हो बाबा ! आप, जो इस गरीबीमें भी ईमानदारी नहीं छोड़ते हो। तुम्हीं लोगोंके बलपर तो यह दुनिया टिकी है।'

—कुमार 'स्वदेशी'

# मनन करने योग्य

## ( १ )

## ईश्वरके विधानपर विश्वास

एक अंग्रेज अफसर अपनी नवविवाहिता पत्नीके थ जहाजमें सवार होकर समुद्रयात्रा कर रहा था। स्तेमें जोरसे तूफान आया। मुसाफिर घबरा उठे, पर ह अंग्रेज जरा भी नहीं घबराया। उसकी नयी पत्नी ी व्याकुल हो गयी थी। उसने पूछा—'आप निश्चिन्त से बैठे हैं?' पत्नीकी बात सुनकर पतिने म्यानसे लवार खींचकर धीरेसे पत्नीके सिरपर रख दी और सकर पूछा कि 'तुम डरती हो या नहीं?' पत्नीने हा—'मेरी बातका जवाब न देकर यह क्या खेल र रहे हैं? आपके हाथमें तलवार हो और मैं डरूँ, ह कैसी बात! आप क्या मेरे वैरी हैं? आप तो झको प्राणोंसे भी अधिक चाहते हैं।' इसपर अफसरने हा—'साध्वी! जैसे मेरे हाथमें तलवार है वैसे ही गवान्‌के हाथमें यह तूफान है। जैसे तुम मुझे अपना ुहृद् समझकर नहीं डरती, वैसे ही मैं भी भगवान्‌को पना परम सुहृद् समझकर नहीं डरता। भगवान्‌का पने जीवोंपर अगाध प्रेम है, वे वही करेंगे जो ास्तवमें हमारे लिये कल्याणकारी होगा, फिर डर किस ातका?'

## ( २ )

## विषयोंमें दुर्गन्ध

कोई भक्त राजा एक महात्माकी पर्णकुटीपर जाया करते थे। उन्होंने एक बार महात्माको अपने महलोंमें पधारनेके लिये कहा, पर महात्माने यह कहकर टाल दिया कि 'मुझे तुम्हारे महलमें बड़ी दुर्गन्ध आती है, इसलिये मैं नहीं जाता।' राजाको बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'महलमें तो इत्र-फुलेल छिड़का रहता है, वहाँ दुर्गन्धका क्या काम? महात्माजी कैसे कहते हैं, पता नहीं।' राजाने संकोचसे फिर कुछ नहीं कहा। एक दिन महात्माजी राजाको साथ लेकर घूमने निकले। घूमते-घामते चमारोंकी बस्तीमें पहुँच गये और वहाँ एक पीपलकी छायामें खड़े हो गये। चमारोंके घरोंमें कहीं चमड़ा पकाया जा रहा था, कहीं सूख रहा था और कहीं ताजा चमड़ा तैयार किया जा रहा था। हर घरमें चमड़ा था और उससे बड़ी दुर्गन्ध आ रही थी। हवा भी इधरकी ही थी। दुर्गन्धके मारे राजाकी नाक फटने लगी। उन्होंने महात्मासे कहा—'भगवन्! दुर्गन्धके मारे खड़ा नहीं रहा जाता—जल्दी चलिये।' महात्माजी बोले—'तुम्हींको दुर्गन्ध आती है, देखो चमारोंके घरोंकी ओर, कितने पुरुष-स्त्रियाँ और बाल-बच्चे हैं। कोई काम कर रहे हैं, कोई खा-पी रहे हैं, सब हँस-खेल रहे हैं। किसीको तो दुर्गन्ध नहीं आती, फिर तुम्हींको क्यों आने लगी?' राजाने कहा—'भगवन्! चमड़ा पकाते-पकाते तथा चमड़ेमें रहते-रहते इनका अभ्यास हो गया है। इनकी नाक ही ऐसी हो गयी है कि इन्हें चमड़ेकी दुर्गन्ध नहीं आती। पर मैं तो इसका अभ्यासी नहीं हूँ। जल्दी चलिये—अब तो एक क्षण भी यहाँ नहीं ठहरा जाता।' महात्माने हँसकर कहा—'भाई! यही हाल तुम्हारे राजमहलका भी है। विषय-भोगोंमें रहते-रहते तुम्हें उनमें दुर्गन्ध नहीं आती—तुम्हारा अभ्यास हो गया है, पर मुझको तो विषय देखते ही उल्टी-सी आती है। इसीसे मैं तुम्हारे घर नहीं जाता था।

राजाने रहस्य समझ लिया। महात्मा हँसकर राजाको साथ लिये वहाँसे चल दिये।'

में ही स्थित गङ्गाके प्रवाहका ज्ञान न हो, इस कारण जल न ग्रहणकर प्यासके मारे तड़प रहा हो, वैसे ही भगवत्-कृपाके रहस्यको न जाननेवाले संसारके अज्ञानी व्यक्ति इससे वञ्चित रह जाते हैं। यथार्थमें तो आकाशकी तरह भगवत्-कृपा असीम है, इस कृपाको जो जितना अपने ऊपर मानता है, अथवा अनुभव करता है, उसे उतना ही अधिक उसका लाभ प्राप्त होता है। जैसे अथाह गङ्गाके प्रवाहमेंसे एक लोटा गङ्गाजल प्यास बुझानेके लिये पर्याप्त है, वैसे ही उस असीम कृपासागरकी कृपाका एक कण भी मनुष्यके अनन्त जन्मोंके पापोंका पूर्ण विनाश करनेमें समर्थ है।"

भगवत्कृपाका दर्शन एक स्थलपर नित्यलीलालीन पूज्य श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने इस रूपमें कराया है—

"पुरुषार्थ करनेवालेको यदि असफलता मिलती है तो वह अपने कर्ममें त्रुटि तथा दूसरोंको बाधक मानकर दुःखी होता है। प्रारब्धवादी असफलतामें अपने भाग्यको कोसकर दुःखी होता है, रोता है। पर जो प्रत्येक फलमें भगवान्की कृपासे भरा हुआ भगवान्का मङ्गल विधान देखता है, वह न तो प्रचुर सम्पत्तिमें हर्षित होता है, न भारी विपत्तिमें रोता है। वह शान्तिपूर्ण चित्तसे निरन्तर अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें भगवान्का मङ्गलमय विधान मानकर उसीमें कल्याण मानता हुआ आनन्दमग्न रहता है। वह हर अवस्थामें भगवान्की सुहृद्ता तथा कृपाके दर्शन करता है।"—

पर यह स्थिति किसी कारणवश यदि नहीं बन पाती है तो इसका एक अमोघ उपाय अपने शास्त्रोंने बताया है और वह है—भगवान्के नामका स्मरण एवं भगवन्नामका आश्रय—

**वेदानां सारसिद्धान्तं सर्वसौख्यैककारणम्।**
**रामनाम परं ब्रह्म सर्वेषां प्रेमदायकम्॥**
**तस्मात् सर्वात्मना रामनाम माङ्गल्यकारणम्।**
**भजध्वमवधानेन त्यक्त्वा सर्वदुराग्रहान्॥**

"चारों वेदोंका सार-सिद्धान्त, सब सुखोंका एकमात्र कारण और सबको प्रेम प्रदान करनेवाला भगवान् रामका नाम ही परब्रह्मरूप है। अतएव मन, वचन और कर्मसे सावधानीपूर्वक सारे दुष्ट अभिनिवेशोंको त्यागकर परम कल्याणकारी भगवान् रामके नामका भजन करो।" (यह ओषधि अत्यन्त गुणकारी है जिसके सेवनका अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति है। इस सरल साधनको जो अपने जीवनमें अपनाता है उसे निश्चितरूपसे भगवत्-कृपाके दर्शन प्राप्त होते हैं।)

अतः आज ही मनमें निश्चय कीजिये। बारम्बार निश्चय कीजिये कि मुझपर भगवान्की बड़ी कृपा है। क्षण-क्षणमें कृपा हो रही है। ऐसा दृढ़ निश्चय होनेपर हमें क्षण-क्षणमें भगवत्कृपाका अनुभव होने लगेगा। यह कल्पना नहीं है। यह तो सत्यमें सत्यका दर्शन है। यह कृपा आपकी अपनी निजी सम्पत्ति है। जैसे माताका वात्सल्य बच्चेकी अपनी निजी सम्पत्ति है वैसे ही इस भगवत्कृपाको न जानने और न माननेके कारण हम दीन और दुःखी हो रहे हैं। वस्तुतः हमारे पास प्रभुकृपाकी अमोघ सम्पत्ति है। उस भगवत्-कृपाका आश्रय लेकर यदि हम मनको वशमें करना चाहेंगे तो मन वशमें हो जायगा। विघ्न-बाधाओंसे बचना चाहेंगे तो उससे रक्षा हो जायगी। दोषों और पापोंसे छूटना चाहेंगे तो दोष और पाप छूट जायेंगे। यदि हम इस बातको जान लें, मान लें तो अभी सुखी हो जायँ, निहाल हो जायँ।

—राधेश्याम खेमका

# अमृत-बिन्दु

( १ )

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी इच्छासे अपनी सुखेच्छा मिटती है ।

किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न हो—यह भाव महान् भजन है ।

कोई हमारा अपकार करता है तो उससे वस्तुतः हमारा उपकार ही होता है; क्योंकि उसके अपकारसे हमारे पाप कटते हैं ।

दूसरोंकी बुराई करनेसे तो पाप लगता ही है, बुराई सोचने, सुनने और कहनेसे भी पाप लगता है ।

रात-दिन भगवान्के भजन-ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले व्यक्तिसे संसारका जो हित होता है, वह रात-दिन स्थूल क्रियाएँ करनेवालोंसे नहीं होता ।

लोगोंमें स्वार्थ और संग्रहकी वृत्ति अधिक होनेसे ही अकाल पड़ता है ।

जबतक किसीसे कोई भी प्रयोजन रहता है, तबतक वास्तविक त्याग नहीं होता ।

पारमार्थिक मार्गमें साधकको सांसारिक अनुकूलता ( धन, मान, बड़ाई, आराम आदि ) तभीतक बाधक प्रतीत होती है, जबतक उसमें सांसारिक सुखकी कुछ भी इच्छा या रुचि विद्यमान है ।

निरन्तर परिवर्तनशील संसारको स्थिर माननेसे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं ।

मुझे केवल परमात्माकी ओर ही चलना है—ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि सम्पूर्ण साधनोंकी मूलभूत साधना है । परंतु संसारको स्थिर माननेसे ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ।

जैसे मनुष्य आफिस जाता है तो वहाँ केवल आफिसका ही काम करता है, वैसे ही इस संसारमें आकर केवल संसारके लिये ही काम करना है, अपने लिये नहीं । फिर संसारसे सुगमता-पूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद होकर नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा ।

मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें अपने कर्तव्यका पालन कर सकता है । कर्तव्यका यथार्थ स्वरूप है—सेवा अर्थात् शरीरादि मिली हुई वस्तुओंको निष्कामभावपूर्वक संसारके हितमें लगाना ।

राग-द्वेषके कारण ही मनुष्यको कर्तव्य-पालनमें परिश्रम या कठिनाई प्रतीत होती है ।

सब ओरसे विमुख होनेपर साधक अपनेमें ही अपने प्रियतम भगवान्को पा लेता है ।

साधक ऐसा माने कि मैं जो कुछ करता हूँ, वह भगवान्की पूजा है और जो कुछ हो रहा है, वह भगवान्की लीला है ।

## 'कल्याण' १९८४ के फरवरी अङ्कके विषयमें सूचना

इधर 'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकोंके अनेक पत्र इस आशयके आ रहे हैं कि 'कल्याण'का विशेषाङ्क तो मिला; परंतु फरवरी १९८४ का अङ्क नहीं मिला । इसके उत्तरमें सभीसे निवेदन है कि 'कल्याण'के विशेषाङ्क ( जनवरी १९८४ ) के साथ ही फरवरीका अङ्क एक ही जिल्दमें जोड़ दिया गया है, वह अलगसे नहीं गया है । पृष्ठ-सं० ४२८ तक विशेषाङ्क है, इसके बाद क ख ग घ सूचीमें नम्र निवेदन आदि हैं और पृष्ठ ४२९ से फरवरीका अङ्क प्रारम्भ होकर ४६८ पर समाप्त होता है ।

आशा है, पाठक एवं ग्राहकगण पूरी बात स्पष्ट समझ गये होंगे ।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय

पंजीकृत-संख्या–जी० आर०–१३

# श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित उपलब्ध पुस्तकोंकी सूची

| | मूल्य |
|---|---|
| १–आत्मोद्धारके साधन ··· | २.५० |
| २–मनुष्यका परम कर्तव्य ··· | २.५० |
| ३–परमशान्तिका मार्ग ··· | २.५० |
| ४–परम साधन ··· | २.०० |
| ५–आत्मोद्धारके सरल उपाय ··· | १.५० |
| ६–प्रेमयोगका तत्त्व ··· | २.०० |
| ७–तत्त्व-चिन्तामणि भाग १ ··· | २.०० |
| ८– ,, ,, ,, ५ ··· | २.५० |
| ९–परमार्थ पत्रावली भाग १ ··· | ०.५० |
| १०– ,, ,, भाग ३ ··· | १.२५ |
| ११– ,, ,, भाग ४ ··· | १.२५ |
| १२–शिक्षाप्रद पत्र ··· | १.२५ |
| १३–अध्यात्मविषयक पत्र ··· | १.०० |
| १४–स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा ··· | १.२५ |
| १५–रामायणके आदर्श पात्र ··· | १.५० |
| १६–बालकोंके कर्तव्य ··· | ०.६० |
| १७–महाभारतके आदर्श पात्र ··· | ०.८० |
| १८–शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ ··· | १.०० |
| १९–आदर्श भ्रातृ-प्रेम ··· | ०.५० |
| २०–ध्यान और मानसिक पूजा ··· | ०.३० |
| २१–आदर्श नारी सुशीला ··· | ०.२० |
| २२–गीता-निबन्धावली ··· | ०.५० |
| २३–नवधा भक्ति ··· | ०.३० |
| २४–भरतजीमें नवधा भक्ति ··· | ०.२५ |
| २५–बालशिक्षा ··· | ०.५० |
| २६–ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप ··· | ०.२५ |
| २७–गीता पढ़नेके लाभ ··· | ०.२० |
| २८–सीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा ··· | ०.२० |
| २९–प्रेम-भक्ति-प्रकाश ··· | ०.१५ |
| ३०–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिका उपाय ··· | ०.२० |
| ३१–गीताका तात्त्विक विवेचन ··· | ०.१५ |
| ३२–गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका रहस्य ··· | ०.१५ |
| ३३–सत्संगकी सार बातें ··· | ०.२० |
| ३४–भगवान् क्या हैं ? ··· | ०.१५ |
| ३५–सत्यकी शरणसे मुक्ति ··· | ०.१० |
| ३६–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय ··· | ०.१० |
| ३७–व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति ··· | ०.१० |
| ३८–धर्म क्या है ? ··· | ०.१० |
| ३९–तीर्थोंमें पालन करने योग्य उपयोगी बातें ··· | ०.०५ |
| ४०–ईश्वर दयालु और न्यायकारी है | ०.०५ |
| ४१–हमारा कर्तव्य ··· | ०.०५ |
| ४२–ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है ··· | ०.०५ |
| ४३–त्यागसे भगवत्प्राप्ति ··· | ०.०५ |
| 44–Gems of Truth ... | 2.50 |
| 45–Sure Steps to God Realization ... | 2.25 |
| 46–What is God ... | 0.15 |
| 47–What is Dharma ... | 0.10 |

## कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका पुनर्मुद्रण

| | |
|---|---|
| १–श्रीमद्भागवत सटीक [दोनों खण्ड] ··· | ५०.०० |
| २–संक्षिप्त महाभारत दोनों खण्ड ··· | ३६.०० |
| ३–वाल्मीकीय रामायण सटीक खण्ड १ ··· | २५.०० |
| ४–अध्यात्मरामायण सटीक ··· | १०.०० |
| ५–श्रीप्रेम-सुधासागर ··· | १०.०० |
| ६–ईशादि नौ उपनिषद् ··· | ६.०० |
| ७–वेदान्तदर्शन ··· | ६.०० |
| ८–गीता पदच्छेद मझोली सजिल्द ··· | ४.०० |
| ९–गीता मोटे अक्षरवाली अजिल्द ··· | २.५० |
| १०–गीता केवल भाषा ··· | १.२५ |
| ११–गीता छोटी भाषा-टीका ··· | १.०० |
| १२–गीता-विष्णु-सहस्रनाम छोटा टाइप ··· | ०.५० |
| १३–विदुरनीति ··· | १.५० |
| १४–पातञ्जलयोगदर्शन, सटीक ··· | १.८० |
| १५–भक्तसरोज ··· | १.०० |
| १६–भक्त-दिवाकर ··· | १.०० |
| १७–प्रेमी भक्त ··· | १.०० |
| १८–आदर्श भक्त ··· | १.०० |
| १९–भक्त कुसुम ··· | ०.८० |

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *




'हरेर्नामैव नामैव हरेर्नामैव केवलम् ।'

[ ...३८ ] [ संख्या ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

( संस्करण १,६०,००० )

# विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अप्रैल १९८४



## चित्र-सूची




प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें —१० पैंस


जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥


कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ५२.०० रु०
( ३ पौण्ड ५० पैंस )

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



श्याममय संसार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



# कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अप्रैल १९८४ ई० | संख्या ४
पूर्ण संख्या ६८९

## श्याममय संसार

जित देखौं तित स्याममई है ।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है ॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोक कहत यह बात नई है ।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है ॥
चंद्रसार रविसार स्याम है, मृगमद स्याम काम विजई है ।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता वेल बई है ॥
श्रुतिको अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है ।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है ॥

# कल्याण

कहते हैं कि बवंडर-( चक्रवात-)के ठीक बीचमें एक ऐसा स्थान भी रहता है, जहाँ कोई हलचल नहीं। वहाँ वायुका तनिक भी प्रकोप नहीं रहता, प्रत्युत इतनी शान्ति रहती है कि यदि किसी छोटे शिशुको वहाँ सुलाया जा सके तो वह सुखकी नींद सोता रहेगा। वायुका झकझोर उसे छूतक नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार इस संसारके कोलाहलके मध्यमें प्रभु विराजित हैं तथा जहाँ वे हैं, वहाँ न तो जगत्‌की हलचल है और न त्रितापकी विषमयी ज्वाला ही। वहाँ सर्वदा और सर्वथा सुख-शान्ति भरी रहती है। जो कोई भी वहाँ पहुँच जाता है, उसके प्राण शीतल हो जाते हैं। जगत्‌के उलट-फेर उसपर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते।

हम अपने जीवनपर विचार कर देखें तो पता चलेगा कि उसमें न जाने कितने चढ़ाव-उतार हुए हैं, कितनी बार हम हँसे हैं और कितनी बार रोये हैं। संसारके प्रवाहमें बहते हुए हम सदा चञ्चल बने रहते हैं। अबतक कोई भी ऐसा विश्रामस्थल हमें नहीं मिला, जहाँ हम थोड़ी देरके लिये भी आरामसे टिक कर, शान्तिसे स्थिर होकर, थकान मिटा सकें। थककर हम जिसका सहारा लेने चलते हैं, देखते हैं वह भी हमारी ही भाँति हलचलमें है, सतत् उसी प्रवाहमें बह रहा है। इस प्रकार संसारके थपेड़ोंकी चोट खाते-खाते हम सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं, मन उद्विग्न हो उठा है और बुद्धि कुण्ठित हो चली है। इन्द्रियाँ यहाँकी वस्तुओंमें सुख ढूँढ़ने जाती हैं, पर सुखके बदले आगे या पीछे इन्हें प्राप्त होती है सदा विषैली ज्वाला ही। ये बुरी तरह झुलस जाती हैं। मन अनुकूलता ढूँढ़ने जाता है, अमुक परिस्थिति ऐसी बन जाय, अमुक व्यक्ति ऐसा बन जाय, यों सोचता हुआ यहाँकी वस्तुओंमें अपने योग्य आश्रय ढूँढ़ने चलता है, पर इसे भी पहले या पीछे मिलती है भयानक प्रतिकूलता ही। आजतक किसीके लिये भी सभी बातें सदा और सर्वथा अनुकूल बन गयी हों, यह न कभी हुआ है न होगा। इसीलिये अनुकूलता ढूँढ़नेवाले मनको प्रतिकूलता प्राप्त होती है और उस समय वह हाहाकार कर उठता है। बुद्धि सारा विवेक लगाकर निर्णय देती है कि बस, इस काममें लगो, इस बार सफलता अवश्य मिलेगी। इस बार तुम्हारे सारे अभावोंकी पूर्ति हो जायगी, किंतु परिणाम यह होता है कि हम असफल हो जाते हैं, अथवा कहीं सफल भी हुए, हमारा कोई-सा एक अभाव पूर्ण भी हो गया तो उसके साथ ही नये दसों-बीसों अभाव खड़े हो जाते हैं। अब इन नये अभावोंकी पूर्ति कैसे हो, इस विषयमें बुद्धि कोई भी निर्णय नहीं कर पाती। इस प्रकार हमारा जीवन इस संसारके बवंडरमें यहाँसे वहाँ उड़ता हुआ भ्रमण कर रहा है, सदा अशान्त बना हुआ है। किंतु यदि हम बवंडरसे खिसककर, इसीके केन्द्रमें विराजित प्रभुसे जा लगें, उनकी छत्रछायामें विश्राम करनेकी ठान लें और साधनात्मक प्रयत्नमें लग जायँ तो निश्चय ही उनका सांनिध्य पा जायँ और हमारी दशा सर्वथा सुधर जाय। उस समय यहाँकी हलचल चाहे कितनी ही भयानक, कितनी ही प्रबल क्यों न हो, हम उससे कभी विचलित नहीं हो सकते। हम प्रभुकी गोदमें चक्रवातके मध्य केन्द्रमें स्थित शिशुकी भाँति सुखसे, चैनसे जीवन बिता सकते हैं। संसारकी हलचल हमें तभीतक प्रभावित करती है, जबतक हम संसारके मूलमध्यमें स्थित प्रभुकी शरण नहीं ग्रहण कर लेते।

'शिव'

# साधकोंके प्रति—

प्रायः साधकोंकी यह धारणा रहती है कि करनेसे ही सब कुछ होता है, इसलिये शुभ कर्म करने चाहिये। यह धारणा बड़ी अच्छी है, पर कर्म कर्ताके अधीन होते हैं। अतः कर्ता जैसा होता है, उसके द्वारा कर्म भी वैसे ही होते हैं। कर्मयोग भी निष्काम कर्मसे नहीं होता, अपितु निष्काम कर्तासे होता है; अतः स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना बहुत उत्तम है, इन्हें अवश्य करना चाहिये। इनमें जप, ध्यानादि कर्म एक तो स्वतः होते हैं और एक करने पड़ते हैं। जबतक कर्तामें भाव नहीं है, तबतक उसे जप, ध्यानादि करने पड़ते हैं। पर भाव होनेसे उसके द्वारा स्वतः स्वाभाविक ही जप, ध्यानादि होते हैं और तेजीसे होते हैं। अब कर्तामें भाव कैसे आये? इसपर विचार करना है।

जहाँ हम अपने-आपको 'मैं हूँ' इस प्रकार मानते हैं, वहीं यह मान लें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। इस प्रकार जब 'मैं'-पनमें अटल भाव हो जायगा, तब निरन्तर स्वतः भगवान्‌का भजन होगा। अभी तो घर (संसार)-का काम स्वतः होता है और रात-दिन निरन्तर होता है। जैसे नौकरी करते हैं तो समयपर जाते हैं और समयपर आते हैं, वैसे ही जप-ध्यानादि भी समयपर करते हैं। तात्पर्य यह है कि जप-ध्यानादि कर्म समयकी सीमामें बँधे रहते हैं। यदि हमारा भाव हो जाय कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं', तो घरके कामकी तरह रात-दिन सतत भगवान्‌का भजन होगा। भजनके बिना हम रह नहीं सकेंगे और घर-(संसार-)का काम नौकरीकी तरह होगा। अतः कर्ताके भावोंमें परिवर्तन होनेसे कर्मोंमें स्वतः स्वाभाविक और शीघ्रतासे परिवर्तन हो जाता है।

साधकसे भूल यह होती है कि वह 'मैं हूँ'के स्थानपर अपने नाम, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिको बैठा देता है, जैसे मैं अमुक नामवाला हूँ, मैं अमुक वर्णवाला हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि अनेक मान्यताएँ कर लेता है। ऐसी मान्यताओंके कारण साधनकी सिद्धिमें विलम्ब होता है। कारण कि ये मान्यताएँ 'मैं' में रहती हैं और भगवान्‌का भजन (उपासना) 'कर्म' में रहता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार 'मैं' में भगवान्‌को रखे और वर्णाश्रम आदिको 'कर्म'में रखे। तात्पर्य यह है कि भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा मानते हुए बाहरसे नाटकमें स्वाँगकी तरह अपने वर्णाश्रम आदिके कर्तव्यका पालन करता रहे।

जहाँ साधक 'मैं हूँ' मानता है, वहाँ भगवान् उससे भी अधिक सूक्ष्मरूपसे विराजमान हैं। 'मैं हूँ' क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र (शरीर)को जाननेवाला (गीता १३। १), और भगवान् कहते हैं कि सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ—**'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'** (गीता १३। २)। तात्पर्य यह कि क्षेत्रज्ञ तो केवल एक शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाला है, पर क्षेत्रज्ञमें जो परमात्मा हैं, उनका किसी शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं है और सबमें परिपूर्ण होनेके कारण उनका सबसे सम्बन्ध है। वे ही वास्तवमें अपने हैं। हम जिस शरीरको अपना मानते हैं, वह कभी अपना था नहीं, है नहीं और रहेगा नहीं। पर परमात्मा अपने थे, अपने हैं और अपने रहेंगे। वे अपनेसे कभी विमुख नहीं हुए। हमीं उनसे विमुख हुए हैं। वे परमात्मा बड़े मधुर हैं, बड़े प्रिय हैं और अपनेमें हैं—ऐसा माननेपर वे स्मरण किये बिना ही याद रहेंगे, भजन किये बिना ही उनका भजन होगा, चिन्तन किये बिना ही उनका चिन्तन होगा। उनमें स्वतः ऐसी प्रियता होगी, जैसी अपने शरीरमें और अपने जीते रहनेमें भी नहीं है।

'मैं हूँ' में जो 'हूँ' है, वह शरीरको लेकर है। उस 'हूँ' में 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। तू है, यह है, वह है—सब जगह परमात्मा ही 'है'-रूपसे विद्यमान हैं। जड और चेतनमें, स्थावर और जङ्गममें, उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें, भाव और अभावमें—सब जगह वे परमात्मा ज्यों-के-त्यों हैं। साधक यदि 'हूँ'का त्याग कर दे अर्थात् 'मैं'-( अहंता-) को मिटाकर सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय ( जो वास्तवमें है ) और 'है' रूपसे विद्यमान परमात्माको अपना मान ले तो फिर उनकी विस्मृति नहीं होगी। जप-ध्यानादि भी स्वतः होंगे, करने नहीं पड़ेंगे। अपनेमें प्रभु स्वतः हैं, बनावटी नहीं हैं। जो अपनेमें स्वतः है, उसकी ओर दृष्टि करनेमें देरी किस बातकी? अपनेमें प्रभुको देखनेवाला कौन है? जो क्षेत्रको देखता था, वही अपनेमें प्रभुको देखता है। जिसका अंश है, उसीको देखता है। अपने अंशीको देखते ही वह अंशीमें मिल जाता है।

अंशीमें मिलनेके दो तरीके हैं—अभेदपूर्वक और अभिन्नतापूर्वक। पहले अभेद होता है, फिर अभिन्नता होती है। अभेदमें भेदकी कुछ गंध रहती है, पर अभिन्नतामें यह मिट जाती है। अभिन्नता वास्तविक है। अभिन्नता भेद-उपासना और अभेद-उपासना—दोनोंमें होती है। भेदमें अभिन्नता ऐसे होती है कि जैसे कहींका लड़का और कहींकी लड़की गृहस्थाश्रममें आकर एक हो जाते हैं तो भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें अभिन्नता हो जाती है। इसी प्रकार दो मित्रोंमें भी अभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाना 'ज्ञान' है और अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न हो जाना 'भक्ति' है।

स्वयं ( स्वरूप ) परमात्मासे अभिन्न है, परंतु संसार और शरीरसे सम्बन्ध माननेके कारण परमात्मासे भिन्नता प्रतीत होती है। अतः संसार और शरीरसे विमुख हो जायँ अर्थात् यह 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं; और 'मैं' प्रभुका हूँ और प्रभु 'मेरे' हैं—इस प्रकार परमात्माके सम्मुख हो जायँ। सम्मुख होते ही उनसे अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नताके बाद फिर बड़ा विचित्र आनन्द प्राप्त होता है। वह (द्वैत) अद्वैतसे भी सुन्दर है—**'भक्त्यर्थ कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्'**। वहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द है, मस्ती-ही-मस्ती है। उसे प्राप्त करना चाहें तो अभी कर सकते हैं। प्राप्त क्या करना है, वह तो प्राप्त ही है। केवल दृष्टि उधर करनी है। इतनी सीधी, सरल और श्रेष्ठ बात कोई नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**
**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥**
( १८। ५५ )

'पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

**'विशते तदनन्तरम्'** पदोंका यह अभिप्राय है कि भगवान्‌को तत्त्वसे जानने अर्थात् उनका अनुभव होनेके बाद फिर उनसे अभिन्न होनेमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं पड़ता। शरीर-संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूटते ही ज्यों-के-त्यों विद्यमान परमात्माका अनुभव हो जाता है। उनका अनुभव होते ही तत्काल भिन्नता मिट जाती है। वास्तवमें भिन्नताकी सत्ता है ही नहीं, तभी वह मिटती है। यदि वास्तवमें भिन्नता होती, तो उस-( सत्-)का अभाव कैसे होता?

असत्-( संसार-)में जो आकर्षण या प्रियता है, वह 'आसक्ति' कहलाती है। वही आकर्षण भगवान्‌में हो जाय, तो उसे 'भक्ति' या 'प्रेम' कहते हैं। धनमें,

भोगोंमें, परिवार आदिमें जो हमारा खिंचाव है, वह भगवान्‌की ओर होते ही भक्ति हो जाता है। वास्तवमें अपनेमें भक्तिका संस्कार—भगवान्‌का खिंचाव स्वतः है, पर असत्‌से सम्बन्ध जोड़नेसे उसकी ओर हो गया। लक्ष्य-( परमात्मा-)की प्राप्ति होनेपर असत्‌का खिंचाव सर्वथा मिट जाता है।

# धर्म

( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती )

[ गताङ्क ३, पृष्ठ-सं० ४७५ से आगे ]

## धर्म-विवेक

**धर्मके चार रूप हैं**—१–नित्य–कर्म- संध्यावन्दनादि, २–नैमित्तिक कर्म—संक्रान्ति, ग्रहण आदिके अवसरपर कर्तव्य, ३–काम्यकर्म—स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये यज्ञ-यागादि और ४–प्रायश्चित्त-कर्म—ज्ञात-अज्ञात त्रुटियोंके दोषको मिटानेके लिये शास्त्रोक्त कर्म। इन चारोंका अन्तः-करणकी शुद्धिमें उपयोग है। ये चार प्रकारसे अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं—१–अधःपतनके कारणभूत प्रत्यवायको मिटा देते हैं। २–जन्म-जन्मान्तरके या सङ्गदोषसे उत्पन्न मलविक्षेपको भगा देते हैं। ३–अनात्मचिन्तनसे वैराग्य होनेके कारण आत्म-चिन्तनके लिये उन्मुख करते हैं अर्थात् जिज्ञासा देते हैं और ४–इन्हींके द्वारा ज्ञानोत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार धर्मानुष्ठान हमारे जीवनको पूर्णताके संनिकट पहुँचा देता है।

## धर्मसे पुरुषार्थ-सिद्धि

शास्त्रोक्त सकाम-कर्मसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; क्योंकि अलौकिक स्वर्ग-सुख, ब्रह्मलोक आदि भोगनेकी सामर्थ्य अन्तःकरणमें नहीं रहती। धर्मानुष्ठानके द्वारा उनके भोग-योग्य अन्तःशरीरका निर्माण होता है। वह लौकिक शरीरसे विलक्षण होता है। सकाम-कर्म अशुद्धियोंको दूर करके इस शुद्ध सात्त्विक शरीरको उत्पन्न करता है; यदि बीचमें ही कदाचित् वैराग्य उदय हो जाय तो परमार्थस्वरूप परमात्माका भी साक्षात्कार हो जाता है।

संसारके पदार्थ इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। उनकी प्राप्तिकी इच्छा अर्थ–पुरुषार्थके नामसे कही जाती है। वे अपने शरीर और मनसे बाहर रहते हैं। उनका संयोग श्रम-साध्य है और वियोग नैसर्गिक। उनकी प्राप्तिमें पराधीनता है, चिन्तनमें तन्मयता होनेसे जडता है, अप्राप्त होनेपर दुःख है और प्राप्त होनेपर भी विनाशका भय है। अर्थमें सुख नहीं है। अर्थके मिलनकी कल्पना या उसके मिलनकी अनुभूतिमें सुख है। सुख सर्वथा एक मानसिक अनुभूति है। बाह्य-पदार्थोंमें मानसिक अनुभूतिके लिये निमित्त होनेकी कल्पना भर की जा सकती है। बाह्य-पदार्थ स्थान, काल, अभिरुचि, अवस्था अथवा स्वगत परिवर्तनके कारण कभी सुख देते हैं तो कभी दुःख देते हैं। इसलिये कामनापूर्तिके अनुकूल होनेपर ही अर्थ पुरुषार्थ होता है। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें वही दुःखप्रद हो जाता है। अर्थ मुख्य पुरुषार्थ नहीं है, काम पुरुषार्थका अङ्ग होनेसे गौण पुरुषार्थ है।

अर्थ बहिरङ्ग है, काम अन्तरङ्ग है। यह अन्तःकरणमें ही रहता है, बाहर नहीं। मनोरूप होनेसे इसकी गति उच्छृङ्खल है। अनुभूतिके संस्कार, दूरकी वस्तुओंके सम्बन्धमें मनोराज्य, प्राप्तके प्रति ममता और अभिमान, भोगमें आत्मविस्मृति–ये सब काम-पुरुषार्थके सहचर हैं। यह सब होनेपर भी काम-पूर्तिमें सुख है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अनुभवसिद्ध है कि अभिरुचिके अनुरूप भोग प्राप्त होनेपर सुख होता है। तो क्या इसको रुचिपर ही छोड़ देना चाहिये ? चाहे जिस वस्तु और व्यक्तिपर स्वत्व स्थापित कर लें, उसका उपभोग कर लें, ऐसा क्या अपने हितमें या समाजके हितमें उपयोगी है ? ऐसी स्थिति तो पशुसे भी गयी-बीती होगी। इसलिये बहिरङ्ग अर्थ और अन्तरङ्ग-काम दोनोंके नियन्त्रणके लिये जीवनमें धर्मकी आवश्यकता है। धर्मका निवास बुद्धिमें है। उपनिषद्‌का वचन है—विज्ञान ही यज्ञका विस्तारक है। अर्थ-संग्रह और भोग-प्रवृत्तिका नियन्त्रण करनेके लिये अन्तर्यामी परमेश्वरकी ही एक शक्ति बुद्धिमें अवतीर्ण होती है। वह बुद्धिस्थ होकर ही उचित-अनुचित, ग्राह्य-त्याज्य, कर्तव्याकर्तव्यको इङ्गित करता रहता है। धर्ममें स्थिरता है, प्रतिष्ठा है, विश्वास है, आत्मबल है

और प्रज्ञाकी अपराधीनता है । विषयवासनाका आक्रमण होनेपर भी प्रज्ञा हारती नहीं, धर्मके बलपर प्रतिष्ठित रहती है। लक्ष्योन्मुख जीवनको धर्म ही आगे बढ़ाता है और पथभ्रष्ट होनेसे त्राण करता है। वह कल्याणका मूल है, निर्वाणका सोपान है।

धर्म उच्छृङ्खल अर्थ-तृष्णाको संयत तथा भोग-लिप्साको नियमित करता है । इस प्रकार दुराचरणके आन्तरिक निमित्तोंको ही कुण्ठित कर देता है। धर्मके दो काम हैं—स्वच्छन्द प्रवृत्तिका अवरोध और निवृत्तिकी परिपुष्टि। अवरोधसे अर्थकामपर नियन्त्रण होता है और निवृत्तिकी परिपुष्टिसे मोक्ष—पुरुषार्थ-प्राप्तिमें सहायता मिलती है। इस प्रकार धर्म पराधीनताके बन्धनको काटता है और मुक्तिका मार्ग उन्मुक्त कर देता है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षका निवास आत्मामें है, वह आत्मरूप ही है। अतएव निवृत्तिकी परिपुष्टिके बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती। धर्मका चाहे कोई भी अङ्ग हो वह दुःखप्रद संसारके किसी-न-किसी अंशका निवर्तक होता है। जो दोषोंका निवर्तक नहीं है, वह धर्म ही नहीं है।

मिथ्याज्ञान-मूलक राग-द्वेष और मोहरूप दोष ही प्रवृत्ति-विस्तारके मूल कारण हैं। योगदर्शनके अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेशरूप क्लेशोंका मूल भी अविद्या ही है। वे अविद्याके खेतमें पनपते-फलते एवं फूलते हैं। अविद्या स्वयं महाक्लेश है। वेदान्त अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित स्वतःसिद्ध आत्माको ही मोक्षकी संज्ञा देता है। अतएव मोक्ष-पुरुषार्थीको निवृत्तिप्रधान धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये।

# परमोपयोगी साधन

## ( एक संतका प्रसाद )

[ गताङ्क ३, पृष्ठ-संख्या ४७९से आगे ]

१३१—पश्चात्ताप करनेसे पाप नष्ट हो जाता है और पाप नष्ट हो जानेपर चित्त ऐसा शुद्ध हो जाता है कि उससे भगवान्‌का साक्षात्कार किया जा सकता है।

१३२—मन, वाणी और शरीर—तीनोंकी एकता होनेपर ही संकल्पसिद्धि होती है। मनमें जिसका संकल्प हो, वही बात वाणीसे कही जाय और वही कर्म शरीरसे किया जाय तो वह संकल्प किसी प्रकार असफल नहीं हो सकता। अन्ततक दृढ़ बना रहता है।

१३३—क्रोधको वशमें करनेके साधन हैं प्रतिज्ञा और विचार। जब क्रोधका वेग आवे तो उसे सहन करके रोकनेका प्रयत्न करो। यदि कभी क्रोध करना आवश्यक जान पड़े तो इस प्रकार करो जिससे हृदयमें जलन न हो। यदि किसी बच्चेके एक चपत लगानेसे काम चल सकता हो तो चार चपतें लगानेकी क्या आवश्यकता है। यह तो हुई विचारकी बात। दूसरा साधन है क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा। प्रतिज्ञाके साथ ही प्रायश्चित्तका नियम भी कर लेना चाहिये। जब प्रमादवश प्रतिज्ञा भंग हो जाय, तब प्रायश्चित्त करके पुनः क्रोध न करनेकी प्रतिज्ञा करे। इस प्रकार यह प्रतिज्ञा ही एक दिन पार लगा देगी। बिना प्रतिज्ञा किये किसी भी नियमका पूर्णतया निर्वाह नहीं हो सकता। जो मनुष्य प्रतिज्ञा नहीं करता वह अपने लिये झूठ न बोलनेपर भी दूसरेके अनुरोधसे उसकी प्रसन्नताके लिये झूठी गवाही दे देगा। परंतु जो असत्य भाषण न करनेकी प्रतिज्ञा कर लेगा, वह कभी मिथ्या भाषण नहीं करेगा। इसी प्रकार क्रोधसे भी प्रतिज्ञा-प्रायश्चित्तके द्वारा ही छुटकारा मिल सकता है।

१३४—ये सात बातें सभीको धारण करनी चाहिये—

( १ ) तृष्णाका सर्वथा अभाव।

( २ ) स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना।

( ३ ) शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहना।

( ४ ) वेद-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करना ।

( ५ ) मनको वशमें रखना ।

( ६ ) इन्द्रियोंको अपने अधीन रखना ।

( ७ ) शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ।

१३५–चित्तमें कोई चिन्तन न हो—इसीका नाम मौन है ।

१३६–भोजन, स्त्री और धन—इन तीनकी लिप्सा त्याग देनेसे सब कुछ हो सकता है ।

पाँच बातें सर्वदा याद रखनी चाहिये—

( १ ) सहन करना ।

( २ ) निरभिमानता ।

( ३ ) धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय ।

( ४ ) पदार्थ कितना ही मिले, किंतु उसे परिमित-रूपसे खाना ।

( ५ ) समय व्यर्थ न खोना ।

१३८–मनपर अधिकार प्राप्त करनेके लिये ये पाँच बातें बहुत उपयोगी हैं—

( १ ) मनोराज्यका त्याग ।

( २ ) मौन अथवा मितभाषण ।

( ३ ) स्त्री-सङ्गका त्याग ।

( ४ ) एकान्त-सेवन ।

( ५ ) धार्मिक पुस्तकोंका पाठ ।

१३९–लौकिक और वैदिक धर्मोंका त्याग साधन-अवस्थामें तो पतनका कारण है, किंतु सिद्धके लिये स्वाभाविक है ।

१४०–अपमान और निन्दा सहन करनेसे तप बढ़ता है । सेवककी सेवा करनेसे सेव्यका तप क्षीण होता है । अतः सेवा करनेसे सेवकका ही लाभ होता है, सेव्यका नहीं । इसलिये जो कोई सेवा करता है, वह अपने लाभके लिये ही करता है ।

१४१–सात जगह मौन रहना चाहिये ।

( १ ) भजनमें ( २ ) भोजन करते समय ( ३ ) शौचमें ( ४ ) लघु-शंका करते हुए ( ५ ) स्नानके समय ( ६ ) यज्ञ या हवन करते हुए और ( ७ ) मार्गमें । ( समाप्त )

# क्रोधनाशका उपाय

**छोटी हो या बड़ी—जब कामना पूरी नहीं होती, मनचाही बात नहीं होती तब कामनापर एक चोट लगती है । और, वह चोट खायी हुई कामना ही क्रोध बन जाती है । जबतक कामना है, तबतक क्रोध तो होगा ही; क्योंकि सारी कामनाएँ कभी भी, किसीकी भी पूरी नहीं होतीं । कामनाका नाश होता है—विषयासक्तिके न रहनेसे । अतएव विषयोंके बदले भगवान्‌में प्रीति की जाय और कुछ भी फल प्राप्त हो—मनचाहा या मनका न चाहा, अनुकूल या प्रतिकूल—उसे सर्वज्ञ शक्तिमान् अपने सहज ही परमसुहृद् भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझा जाय तो कामना यदि कहीं होगी भी तो उसपर चोट नहीं लगेगी; क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें भगवान्‌की मङ्गलमयताके दर्शनके कारण समता रहेगी । यों विषय-कामना अपने-आप ही नष्ट हो जायगी और क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होगी । साधारणतया क्रोधसे बचनेका उपाय है—क्रोधके समय चुप रहना या भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन करने लगना ।**

# आत्मनिवेदन

( ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका )

[ गताङ्क ३, पृष्ठ-सं० ४७८ से आगे ]

भक्तिका पहला अङ्ग श्रवण है। इसलिये इसको सर्वप्रथम भक्ति कहते हैं। श्रवणके बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई ऐसा उदाहरण मिले तो उसमें भी पूर्व-संस्कार तो मिलेंगे ही, जिनसे यही प्रतीत होता है कि इसने पूर्वजन्ममें ही श्रवण कर लिया होगा। श्रवण आदि भक्ति है। पहले सुनता है तभी तो उसकी रुचि होकर वह इस ओर ( भक्तिकी ओर ) लगता है। आत्मनिवेदन अन्तिम भक्ति है, इसमें और भक्तियाँ समा जाती हैं। आत्मनिवेदन हो जानेपर उस साधककी भक्ति अनन्य हो जाती है। शरणागतिके जितने भाव हैं, वे स्वयं ही उसमें आ जाते हैं। पतञ्जलिने जो **'ईश्वरप्रणिधान'** कहा है, वह भी इस पुरुषमें आ जाता है तथा उसका फल समाधि-सिद्धि भी उसे मिल जाती है। फिर उद्धारकी तो उसे कोई चिन्ता ही नहीं रहती, उसका तो उद्धार निश्चित हो चुका।

आत्मसमर्पण करके भक्त सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे अपने लोक-परलोकके लिये किसी प्रकारका भय या चिन्ता नहीं रहती। एक मनुष्य पाठशाला चलाता है, रात-दिन उसकी चिन्तामें लगा है। यदि कोई योग्य सम्पत्तिशाली सज्जन उस कामको सँभाल ले तो फिर वह निश्चिन्त हो जाता है। फिर कभी-कभी वह उसका काम करता भी है तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं होती; इसी प्रकार जैसे कोई आदमी अपना काम किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर परदेश जाय तो पीछेके कामकी कोई चिन्ता नहीं रहती, ऐसे ही जो अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसके लिये भय और चिन्ताका कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसके आनन्दका पार नहीं रहता। जैसे किसी कंगाल लड़केको कोई करोड़पति दत्तक ( गोद ) ले तो वह बड़ी प्रसन्नतासे उस पिताकी गोदमें जाकर बैठ जाता है और निश्चिन्त हो जाता है। वह जानता है कि मेरे पास पाँच पैसे भी नहीं थे और अब मैं करोड़ोंकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो गया; अतः उस पिताकी गोदमें बैठकर उसे बड़ा ही आनन्द होता है; क्योंकि इससे उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता सदाके लिये मिट जाती है। यह तो एक मनुष्यकी गोद बैठनेकी बात है, परंतु जो उस परमात्माको आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका क्या ठिकाना है! वहाँ भयकी बात ही कहाँ है? जब साधारण धनवान्‌की गोदमें बैठनेवालेको भी भय नहीं रहता, तब परमात्मा तो सर्वसामर्थ्यवान् हैं, उसकी गोदमें भय कैसा? वहाँ पहुँचकर फिर शान्तिका पार नहीं रहता। धनवान्‌की गोदमें बैठनेवाला तो धनके स्वार्थवश, उसमें बाधा पड़नेपर उसीका अनिष्ट-चिन्तन कर सकता है। यह उसकी नीचता और कृतघ्नता है। परंतु परमात्माकी गोदमें कोई इस स्वार्थसे नहीं बैठता, उसको इसी बातमें बड़ा आनन्द होता है कि प्रभुने मुझको अपना लिया। हमलोग तो उसके आनन्दको समझ नहीं सकते। बड़ी विलक्षण बात है।

एक करोड़पति वाइसरायसे मिलने जाता है, उसके साथ दो-चार आदमी हैं और वह लड़का भी है, जिसे उसने दत्तक लेनेका विचार किया है। वाइसराय पूछते हैं कि यह लड़का किसका है? वह लड़का कहता है कि मैं इनका हूँ, परंतु जहाँतक वह करोड़पति स्वयं अपने मुँहसे यह बात स्वीकार नहीं कर लेता, वहाँतक वाइसराय उसकी बात नहीं मानते। यदि दूसरी बार वह लड़का अकेला जाता है तो वाइसराय उसका कोई

वागत नहीं करते; कहते हैं सेठका पत्र लाओ। तुम ही तो कहते हो कि मैं उनका हूँ, उन्होंने कहाँ स्वीकार किया है ! इस प्रकार उस लड़केके कहनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता। वह लड़का अपने मुँहसे कहता है कि 'मैं इनका हूँ।' इसमें उसे वह आनन्द नहीं मिलता जो उस धनवान्‌के यह कहनेपर मिलता है कि 'यह मेरा है।' इसी प्रकार अभी तो हमीं कह रहे हैं कि 'हम आपके हैं।' जिस दिन प्रभु हमें स्वीकार कर लेंगे और कहेंगे कि 'तू मेरा है' उसी दिन हम उनके सच्चे अपने होंगे। जिसे परमात्मा अपनाते हैं उसके आनन्दको हमलोग क्या कह सकते हैं ! उसमें स्वार्थ नहीं, प्रेम है। दत्तक लिये गये लड़केको तो यदि पिता कष्ट देते हैं तो वह विरुद्ध भी हो जाता है; क्योंकि वह तो धनके लोभसे गया है, परंतु जो निष्काम प्रेमभावसे अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देते हैं, उनके शरीरके तो यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं। वहाँके उपयुक्त तो कोई उदाहरण ही नहीं प्रतीत होता। कोई आदमी किसी महात्माके पास जाता है और उनसे एक वस्त्र स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है। महात्मा अस्वीकार कर देते हैं। वह तो अर्पण करता है, परंतु जहाँतक महात्मा स्वीकार नहीं करते, वहाँतक अर्पण नहीं होता। जब विशेष आग्रह करनेपर महात्मा स्वीकार कर लेते हैं, तब अर्पण हो जाता है। वह कहता है, अहा ! मेरा अहोभाग्य है जो मेरा वस्त्र महात्माजीने स्वीकर कर लिया ! फिर जब महात्मा उस वस्त्रको अपने सेवकोंको न देकर स्वयं अपने काममें लाते हैं, तब उसे कितना आनन्द होता है !

महाराजकी सेवामें एक पंखा भेंट किया जाता है, गरमी खूब पड़ रही है, उसी पंखेसे अपने ही हाथसे हवा करनेका विशेष आग्रह करनेपर यदि वे महात्मा स्वीकार कर लेते हैं तो कितना आनन्द होता है ! महाराज सोना चाहते हैं, उनसे प्रार्थना की जाती है कि महाराज ! मेरी गोदमें सोनेकी कृपा कीजिये। विशेष आग्रहसे यदि वे स्वीकार कर लें तो कितना आनन्द होता है ! अब यदि देखा जाय तो वह महात्मा हैं या नहीं, इसका पता नहीं। हमारी भावनासे ही हमको इतना आनन्द होता है। ऐसे ही वह परमात्मा जिसको बहुत-से महात्मा प्राप्त कर चुके हैं, यदि हमारे शरीरको अपने काममें लाते हैं या काटते भी हैं तो कितना आनन्द होना चाहिये। उस समय हमारा रोम-रोम हर्षित हो जाना चाहिये। यदि हमारे शरीरके चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर वे पहन लें, तो हम कृतकृत्य हो जायँ। अहा ! हमारे शरीरका ही यह उपयोग हो रहा है। कितनी दया है ! हमारी वस्तुको प्रभु काममें ला रहे हैं। एक पतिव्रता पतिके सुखसे सुखी होती है। जिस समय पतिदेव उसका तन-मन अपने काममें लाते हैं, उस समय वह अत्यन्त आनन्दित होती है। यद्यपि यह पतिव्रता अपने पतिमें ईश्वर-भाव ही रखती है, परंतु तो भी यह तो समझती है कि वे मेरे लिये ही नारायण हैं। दो घनिष्ठ मित्रोंमेंसे यदि एक दूसरेकी वस्तुको बिना पूछे अपने काममें लाता है तो उस वस्तुके स्वामीको आनन्द ही होता है; यह समझकर उसे और भी अधिक आनन्द होता है कि मेरे मित्रने मेरी वस्तु स्वीकार कर ली। ये सब तो लौकिक बातें हैं। इसी प्रकार यदि साक्षात् परमेश्वर हमारी वस्तुओं और हमारे शरीर आदिको अपने काममें लाते हैं तो उससे बढ़कर हमारे लिये और क्या आनन्दकी बात हो सकती है ! इस प्रकार जो प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहता।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सहित साधुवेषमें सिंहको साथ लिये राजा मयूरध्वजके यहाँ पहुँचे, उस समय उन्होंने राजाके पुत्र रत्नकुमारका

आधा शरीर अपने सिंहके लिये माँगा। राजाने कहा—'महाराज! मुझे तो कोई आपत्ति नहीं, परंतु रानीसे पूछना आवश्यक है।' रानीके स्वीकार करनेपर राजा-रानी दोनोंने पुत्रसे पूछा। पुत्र बोला—ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा? ये तो साक्षात् भगवान् हैं। राजा और रानी दोनों पुत्रको चीरने लगे, पुत्र हँसता है, खिलखिलाता है। उसे यह ज्ञान है कि ये परमेश्वर हैं। उसमें श्रद्धा है, प्रेम है और प्रसन्नता है। राजा और रानीने तो अपनी प्यारी वस्तु ही भगवान्के अर्पण की, परंतु रत्नकुमारने तो स्वयं अपने-आपको अर्पण कर दिया! राजा-रानीको उसके समान आनन्द कैसे हो सकता था? उस समय रानीकी आँखोंसे आँसू गिरते देखकर साधु बोले—'हम नहीं जीमते।' रानी कहती है—'महाराज! मैं पुत्रके मृत्युशोकसे नहीं रो रही हूँ, दुःख यह है कि पुत्रका आधा शरीर काममें आया। आधेने न जाने क्या पाप किया है!' भगवान् तुरंत प्रकट हो गये। वे तो प्रकट होनेवाले ही थे। यदि हमारा भाव ऐसा हो तो हमारी सब वस्तुएँ भगवान्के अर्पण ही हैं। उन तीनों-(राजा-रानी और पुत्र-)में किसीको भी दुःख होता तो भगवान् स्वीकार नहीं करते। हर्षके साथ अर्पण करना चाहिये। राजा मयूरध्वज, रानी और राजकुमारका-सा भाव हो तो भगवान् तुरंत प्रकट हो जायँ। जो ऐसी प्रसन्नतासे अपने-आपको भगवदर्पण करता है, उसीको भगवान् स्वीकार करते हैं। ऐसे प्रेमसे दी हुई वस्तुको भगवान् नहीं त्यागते। महात्मालोग भी प्रेमसे दी हुई वस्तुको आवश्यकता होनेपर ले लेते हैं। वे समझते हैं कि नहीं लेनेसे इस बेचारेको दुःख होगा। फिर परमात्माकी ओरसे तो खुली आज्ञा हो चुकी है—

**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।**
**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥**
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी सच्चे हृदयसे उनकी शरण हो जाता है, उसको वे कभी नहीं त्यागते।' जैसे किसीके पास एक वस्त्र है, उस वस्त्रने अपने स्वामीको आत्म-समर्पण कर रखा है। वह उसे फाड़े, फेंके, जलावे, बिछावे, ओढ़े अथवा किसीको दे डाले; वह कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता, वह उसका कैसा ही उपयोग करे, उस वस्त्रको कोई आपत्ति नहीं होती। इस प्रकार जो उन प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, वे उसका चाहे सो करें, उसे कोई आपत्ति नहीं होती। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है। वह जीता हुआ ही मुर्देके समान प्रभुके समर्पित हो जाता है, मुर्दा कोई आपत्ति कर सकता हो तो वह भी करे। इस प्रकार जो जीता हुआ ही मुर्देका सच्चा स्वाँग कर दिखलाता है वही जीवन्मुक्त है।

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा निर्भय हो जाता है, वह शोकसे तर जाता है तथा अटल और नित्य शान्तिको प्राप्त कर लेता है। उस जीवन्मुक्तका संसारमें विचरना हमलोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। उसे अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता—

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
**आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥**
(गीता ३। १७)

'जो पुरुष इस प्रकारसे भगवत्-शरण हो जाता है, उसका जीवन केवल लोगोंके कल्याणके लिये ही होता है।' जैसे पंचायतीके सामानोंसे जो चाहे वही अपना काम निकाल सकता है, उसी प्रकार उस पुरुषसे भी सबको अपना काम निकाल लेनेका अधिकार-सा होता है। ऐसे विरक्त पुरुषोंका जीना संसारके उपकारके लिये ही होता है। परंतु उनमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं संसारके हितके लिये विचरता हूँ। जो ऐसा कहता है वह तो अभिमानी है, वह जीवन्मुक्त कभी नहीं हो सकता। अमानित्व आदि सद्गुण तो उनमें पहलेसे ही आ जाते हैं।

ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे नेत्र, भाषणसे वाणी और चिन्तनसे मन पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष संसारमें हजारों-लाखों हो चुके हैं। उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें तो ऐसे बहुत ऋषियोंने तपस्या की है। वह पवित्र भूमि स्वाभाविक ही वैराग्ययुक्त है। उस भूमिमें रहनेवाले महात्मा पुरुषोंकी महिमा कहाँतक गायी जाय? भगवान्‌से यदि कुछ माँगना हो तो यही माँगे कि 'हे प्रभो! जिन महात्माओंकी महिमा आप गाते हैं, हमें उन्हींके चरण-चिह्नोंका अनुगामी बनाइये।' और माँगनेकी भी क्या आवश्यकता है। जो पुरुष भगवान्‌की शरण हो जायगा और जिसे भगवान् अपना लेंगे उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है, वह तो औरोंका भी उद्धार कर सकता है। ऐसे महात्मामें ऐसे लक्षण आ जाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥**
**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।**
**अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥**
(गीता १२। १८-१९)

'जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है, और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।' (आत्म-समर्पणसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है।) (समाप्त)

# सत्यकी साधना

(स्वामी **श्रीविपिनचन्द्रानन्द** सरस्वतीजी 'जजस्वामी')

भारतीय गणतन्त्रके विधानके निर्माणके समय देशके लिये एक 'मोटो' (सिद्धान्त) आदर्शोक्तिकी आवश्यकता थी। बहुत विचारके पश्चात् **'सत्यमेव जयते'** (मुण्डक उप० ३। १। ६) स्वीकृत हुआ, परंतु मुण्डकश्रुतिमें **'सत्यमेव जयते'** के पश्चात् **'नानृतम्'** शब्द अधिक है, जो देशके 'मोटो'में सम्मिलित नहीं किया गया। इसका कारण अज्ञात है, किंतु अनुमान है कि किसी आधुनिक विद्वान्‌ने कल्पना की कि श्रुतिमें पुनरुक्ति-दोष है, अतः सम्पूर्ण वाक्यका विधि-अंश ही पर्याप्त है; अथवा किसी परिहास-प्रियने भविष्यत्-वृत्तिसे व्यङ्ग्य किया कि भारतभूमिमें स्वतन्त्रताके पश्चात् कभी-कभी **'अनृतम्'** भी विजयी होगा, अतः **'अनृतम्'** शब्द लिखकर भी क्यों लज्जित किया जाय? अतएव केवल **'सत्यमेव जयते'** ही रखा गया।

अब यह प्रश्न उदित हुआ कि 'क्या संसारमें कभी **'अनृतम्'** भी विजयी हो सकता है?' इसका समुचित उत्तर है कि कदापि किसी क्षण एक प्रतिशत भी सफलता असत्यको प्राप्त होनी सम्भव नहीं है, यदि किसी भी सीमातक और कुछ क्षणतक सफलता मिल जाय तो लोभी मनुष्य सफलताके कण और क्षणकी वृद्धि करके उसे दीर्घकालीन अथवा शाश्वत बनानेमें सफल हो जायगा जो असम्भव है।

कहते हैं—एक व्यापारी दस गजकी जगह नौ गज कपड़ा दे और दस रुपयेकी जगह ग्यारह रुपये ले तथा इस बातकी घोषणा करता रहे कि मैं ऐसा करता हूँ और सुननेवाले उसके वचनपर विश्वास करें तो क्या यह सम्भव है कि एक भी ग्राहक उससे एक गज कपड़ा कभी खरीदेगा? कदापि नहीं। होता यह है कि वह अपने असत्यको सत्यका आवरण पहनाकर प्रचलित करता है, जिसका

सामयिक विश्वास कर लिया जाता है और जब आवरण-भंग होता है तथा उसकी पोल खुल जाती है, तब वह हानि, अशान्ति, लज्जा एवं अपकीर्तिका अनुभव करता है। वकील, मजिस्ट्रेट, इनकमटैक्सके वकील, अफसर आदि जिनका व्यावहारिक सत्य-असत्यसे अधिक सम्बन्ध होता है, सम्यक् प्रकारसे जानते हैं कि केवल अनृतसे कदापि किसी प्रकारकी सफलता प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत समस्त व्यवहारमें सत्यका आधार लेना सदैव परम आवश्यक है। सिद्ध हुआ कि सफलता कदापि असत्यकी नहीं होती है, सत्याभासकी होती है और जब सत्याभासकी इतनी सफलता संसारमें प्रतीत होती है, तब शुद्ध सत्यकी सफलता निश्चित ही असीम एवं शाश्वत होगी—यह परम सत्य निर्विवाद एवं अनुभवगम्य है।

**सत्यार्थ**—सत्यका अर्थ क्या है? सामान्यतः जो बात इन्द्रियोंने जैसा ग्रहण किया है और बुद्धिने स्वीकार किया है, वैसा ही उपयुक्त अवसरपर वर्णन करना तथा इसमें कभी प्रमाद न करना ही सत्य है। सत्यका वास्तविक अर्थ 'परम ब्रह्म' है। श्रुति कहती है—

**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** ( तैत्तिरीय० २ । १ )
**'आनन्दो ब्रह्म'** ( तैत्तिरीय० ३ । ६ )

सृष्टिके मूलमें यही ब्रह्म सत्यरूपसे विद्यमान था—

**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'**
( छान्दोग्य० ६ । २ । १ )

अन्य त्रिगुणात्मक संसार इसके पश्चात् बना अथवा प्रतीत हुआ। नाम-रूपात्मक समस्त जगत्का जो ( वास्तवमें विवर्त ) अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, वही सत्य है। वह सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, जो जीवके शुद्ध स्वरूपमें विलक्षण नहीं है। ऐसा सत्यस्वरूप समस्त सृष्टिका मूल एवं उपादान तथा निमित्तकारण है, वह अपने विवर्त जगत्के समक्ष किसी प्रकार कदापि पराजित नहीं हो सकता। कोई कार्य अपने कारणके विरुद्ध अथवा कारणकी अवज्ञा करके जीवित नहीं रह सकता तथा सत्य-रूप कारण ही सदा-सर्वदा प्रत्येक परिस्थितिमें सफल होता है। इसके विरुद्ध असत्य कथमपि कदापि खड़ा रहनेमें समर्थ नहीं है। यही सत्य जीवनका आधार है तथा हमको इसीका विचार, इसीकी निष्ठा, इसीकी रति, इसीकी उपासना एवं वार्ता सदा-सर्वदा करनी आवश्यक है। विचार एवं श्रद्धापूर्वक समस्त असत् पदार्थोंका बाध करके केवल शाश्वत, अविनाशी, त्रिकालाबाधित सत्यमें यत्नपूर्वक परिनिष्ठित होना चाहिये।

**'सत्यभाषण'**—सत्यकी आराधनाका एक अङ्ग सत्य बोलना है। इसके विषयमें कुछ विस्तृत वार्ता की जानी उचित है। वेदकी आज्ञा है—

**'सत्यं वद'** ( तैत्तिरीय० १ । ११ । १ )
तथा—
**'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'** ( तैत्तिरीय० १ । ११ । १ )

अर्थात्—'सत्य बोले और सत्य बोलनेमें कदापि प्रमाद न करे।' तात्पर्य यह है कि सदैव सावधानी बरते और भूलकर भी कभी असत्य न बोले—जैसा इन्द्रियोंसे ग्रहण किया है और बुद्धिने स्वीकार किया है, अवसर प्राप्त होनेपर वैसा ही प्रकट करे।

सत्यकी साधना मनुस्मृतिमें इस प्रकार है—

**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।**
**प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥**
( अ० ४, श्लो० १३८ )

सत्य बोले, प्रिय बोले तथा अप्रिय सत्य न बोले और प्रिय अनृत न बोले, यह सनातन धर्म है।

श्रीमद्भगवद्गीताका आदेश है—

**अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।**
( १७ । १५ )

महात्माओंने गुर बताया है कि सत्यनिष्ठको सत्य तथा प्रिय, हितकारी एवं मित शब्दोंका सदा प्रयोग करना उचित है। किसी परिस्थितिमें इन सबका मिश्रण प्राप्त न हो सके तो मौन रहना आवश्यक है। कोई व्यक्ति बारह वर्षतक सत्यकी इस प्रकार निरन्तर आराधना करे तो उसको वाक्-सिद्धि प्राप्त होगी।

एक प्रसिद्ध कथा है। एक चोरको किसी महात्माका सत्संग प्राप्त हुआ। महात्माने चोरी करनेका निषेध किया। इसमें चोरके द्वारा अपनी असमर्थता प्रकट करनेपर महात्माने संशोधन किया, 'अच्छा असत्य कभी न बोलना, चोरी करो अथवा न करो।' चोरने सत्य बोलनेकी प्रतिज्ञा कर ली। कुछ समय पश्चात् वह राजमहलमें चोरी करने गया। द्वारपालके पूछनेपर 'कौन है'? उसने उत्तर दिया 'चोर'। द्वारपालने समझा कि यदि वह वास्तविक चोर होता तो ऐसा कदापि न कहता, यह राजाका कोई विश्वासपात्र है और किसी गुप्त राजकार्यमें नियुक्त है। उसने उसे जाने दिया। चोर चोरीका धन लेकर जब वापस आया तो द्वारपालके रोकनेपर उसने कहा कि 'चोरीका माल ले जा रहा हूँ।' द्वारपालने पूर्वकी भाँति विश्वास करके उसे जाने दिया। दूसरे दिन ढूँढ़नेपर चोरके यहाँसे माल निकला। चोरने राजाके समक्ष उपस्थित किये जानेपर समस्त वृत्तान्त सत्य-सत्य वर्णन किया। असाधारण व्यवहार देखकर राजाको अधिक जिज्ञासा हुई और राजाके पूछनेपर चोरने गुरुदत्त सत्य-वचनका आदेश प्रकट किया। राजा चोरकी गुरुनिष्ठा एवं सत्यनिष्ठा देखकर प्रसन्न हो गया और कुछ धन देकर उसकी जीविकाका उचित साधन कर दिया। तत्पश्चात् उसने चोरी करनी छोड़ दी। स्पष्ट है कि बिना अनृत भाषण किये अन्य कोई पापका दुर्गुण होना सम्भव नहीं है। केवल सत्य बोलनेकी निष्ठासे जीवन अवश्यमेव पवित्र एवं शान्त बन सकता है।

श्रीशुक्राचार्यने श्रीमद्भागवतमें राजा बलिको आज्ञा दी कि किस-किस स्थलमें अनृतका प्रयोग उचित है—

**स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।**
**गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥**
(श्रीमद्भा० ८। १९। ४३)

'स्त्रीके साथ, परिहासमें, विवाहमें, वित्त अथवा प्राणसंकटके समयमें, गौ-ब्राह्मणकी रक्षाके लिये तथा किसीको मृत्युसे बचानेके लिये झूठ बोलना निन्दनीय नहीं है।'

परंतु ध्यान रहे कि यह अपवादमात्र है; कारण, इस श्लोकसे पूर्वके श्लोकमें लिखा है—

**सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन् मृतः।**
(श्रीमद्भा० ८। १९। ४२)

'जो सभी वस्तुओंके लिये 'नहीं' करता रहता है, अर्थात् झूठ बोलनेका जिसका स्वभाव ही है, उसकी अपकीर्ति हो जाती है, वह तो जीवित रहनेपर भी मृतकके समान ही है।'

एक महात्मा अपने प्रवचनमें सत्य बोलनेका उत्साह-पूर्वक उपदेश दे रहे थे। किसी जिज्ञासुने पूछा, 'महाराज! किसी गौ अथवा मनुष्यके प्राण जाते हों तो क्या उस समय भी सत्य बोला जाय?' उन्होंने जो उत्तर दिया, वह उल्लेखनीय है। महात्मा बोले—'भाई! तुम्हारे चालीस वर्षके जीवनकालमें क्या कभी ऐसा अवसर उपस्थित हुआ, जब किसीका प्राण रहना या न रहना केवल तुम्हारे सत्य अथवा असत्य-भाषणपर निर्भर हुआ हो?' जिज्ञासु बोला—'नहीं महाराज!' महात्मा बोले कि 'क्या कभी तुम्हारे पिता अथवा पितामहके जीवनमें ऐसा अवसर आया?' जिज्ञासुका निषेधात्मक उत्तर प्राप्त होनेपर महात्मा बोले कि 'यदि ऐसा अवसर शतवर्षमें भी प्राप्त नहीं हुआ एवं यत्किंचित् कभी भविष्यमें प्राप्त हो जाय तो तत्काल आकर हमसे अथवा अन्य किसी महापुरुषसे शङ्का-समाधान कर

लेना; परंतु भगवान्‌के लिये उस समयतक तो सत्य बोलनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा अवश्य करो।' तात्पर्य यह है कि अपवादके व्याजसे मूलधर्मका त्याग अनुचित है। वास्तवमें धर्मकी गति गहन है, अतः प्राण-रक्षाका पुण्य अथवा अनृतके प्रयोगका पाप दोनों अवश्यमेव न्यून अथवा अधिक मात्रामें भोगने पड़ेंगे। जैसे राजा युधिष्ठिरको थोड़े छलयुक्त शब्दोंके प्रयोगके कारण नरकके दर्शन करने पड़े (महाभारत स्वर्गारोहणपर्व ३। १५। १५३ 'गीताप्रेस'से मुद्रित)।

जन-धारणा है कि सदा सत्य बोलनेवाले प्रायः कष्टग्रस्त देखे जाते हैं। यह भ्रममात्र है। प्रथम तो शास्त्रके अनुसार सत्यव्रतका आचरण करनेवालोंकी संख्या अल्प है; द्वितीय उनको कष्ट कदापि कथमपि सत्यके कारण न है तथा न हो सकता है। उनको दुःख पूर्वसंचित पापके फलस्वरूप अथवा कार्य-कुशलताकी न्यूनता आदिके कारण ही होता है। उदाहरणार्थ जैसे किसीने हत्या की, तत्पश्चात् सत्य बोला—उसको हत्या करनेका दण्ड मिलेगा, न कि सत्य बोलनेसे। सत्य बोलनेसे दण्ड प्रायः कम हो जायगा। किसी व्यापारीने लोभवशात् बहुत माल कुसमयमें खरीदकर भर लिया तथा सत्य बोला—उसको व्यापारमें कुशलहीनताके कारण हानि होगी, न कि सत्य बोलनेके कारण। सत्यशीलको अनायास प्राप्त दुःख तप है, जो हृदय शुद्ध करके उसको भगवत्प्रसादका तुरंत भागीदार बना देगा।

**असत्य-भाषणके हेतु—**

जीवन-सम्बन्धी एक मार्मिक प्रश्न यह है कि असत्य बोलनेमें महती अशान्ति, भय, हानि तथा अपकीर्ति होती है, यह निर्विवाद एवं सर्वगत है, तथापि लोग असत्य क्यों बोलते हैं? इसके प्रायः चार हेतु हैं—

१—अज्ञानवशात्,
२—स्वभाववशात्,
३—परवशात्,
४—स्वार्थवशात्।

**१—अज्ञानवशात्—**

जिसको सत्य-असत्यका विवेक नहीं है, वह अबोध है, जैसे बालक। उसको असत्य बोलनेका पाप नहीं लगता।

**२—स्वभाववशात्—**

जो लोग प्रमादसे असत्य बोलते हैं, उनके लिये सावधानी तथा विपरीत भावनाद्वारा सदभ्यास आवश्यक है। वेदकी आज्ञा है कि सत्य बोलनेमें कभी प्रमाद न करे। इसलिये साधकको स्वभाव सुधारना परमावश्यक है, अन्यथा साधनमें उन्नति असम्भव है। स्वभाववश निरर्थक असत्य बोलनेसे किसी प्रकारके लाभकी आशा भी नहीं है, फिर अनृतसे बचनेका प्रयास क्यों न किया जाय। विशेषकर बच्चोंसे कभी बचनभङ्ग एवं असत्य-भाषण नहीं करना चाहिये। इससे उनकी एवं हमारी दोनोंकी हानि है।

**३—परवशात्—**

परवश होनेसे असत्य भाषण करनेमें पापका फल न्यून अवश्य होता है, परंतु जीवनमें ऐसे अवसर प्रायः उपस्थित नहीं होते एवं युक्तिसे तथा भगवान्‌के आश्रित होकर बिना असत्य व्यवहारके विषय-परिस्थितिसे निवृत्त हो सकते हैं। इसके सहस्रों उदाहरण हैं, परंतु परवशताके व्याजमें अपने स्वार्थको सिद्ध करनेकी वासना अथवा चेष्टा निहित न होनी आवश्यक है। ऐसे असत्यका प्रायश्चित्त भी अल्प है।

**४—स्वार्थवशात्—**

सबसे भयानक पाप स्वार्थवश असत्यका प्रयोग है। स्वार्थके अन्तर्गत लोभ, मद, मात्सर्य, काम, ईर्ष्या आदि समस्त दोष सम्मिलित हैं। इनके कारण जो सनातन धर्मके विरुद्ध असत्य-भाषणका प्रयोग करेगा, वह निश्चित ही पापका भागी होगा और इस जन्ममें

अविश्वास, अपकीर्ति तथा महती हानि एवं अशान्तिका अनुभव करेगा, तत्पश्चात् उसको परलोकमें भीषण यातना भोगनी पड़ेगी।

**निष्कर्ष—**

निष्कर्ष यह है कि सुखके इच्छुक साधकके लिये न्यूनतम यह आवश्यक है कि किसी भी कारणवश किसी समय अनृतका प्रयोग हो जाय तो उसका शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त अवश्य करें। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। परंतु जो ऐसे सुखका अभिलाषी है, जो शाश्वत, स्वाधीन तथा सदा प्राप्त एवं ज्ञात हो उसके लिये परमावश्यक है कि सत्यकी साधनामें तत्पर रहे तथा साधनके सूक्ष्म रहस्यको शास्त्र तथा गुरुकी कृपासे प्राप्त करे तथा प्रत्येक परिस्थितिमें यथासम्भव प्रमाद-रहित **'सत्यं वद'** आदेशका सदा यत्नपूर्वक आचरण करे। इसीमें जीव एवं देशका कल्याण है। **'सत्यमेव जयते नानृतम्।'**

# चैतन्य महाप्रभुका प्रादुर्भाव और उत्कर्ष

( लेखक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल )

रागानुगा भक्तिका दूसरा नाम है—प्रेमाभक्ति। इस प्रेमाभक्तिका भण्डार है श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति राधाके पास। राधा श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। वे प्रेमा-भक्तिकी आश्रय हैं, श्रीकृष्ण हैं प्रेमाभक्तिके विषय। विषय वह जिसे प्रेम किया जाय, आश्रय वह जो प्रेम करे।

राधा श्रीकृष्णकी माधुरीपर मुग्ध हैं। वे श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। श्रीकृष्णसे प्रेम कर उन्हें बड़ा सुख मिलता है। यह सब देख-देखकर एक बार श्रीकृष्णके मनमें तीन बातें आयीं—

१—**'श्रीराधाप्रणयमहिमा—कीदृशः'**—अर्थात् राधाकी प्रणय-महिमा कैसी है?

राधिका महाभावस्वरूपिणी हैं। महाभाव कहते हैं घनीभूत प्रेमको। महाभाव है प्रेमकी चरम परिणति। राधामें श्रीकृष्ण-प्रेम घनीभूत है। वे घनीभूत ( श्रीकृष्ण ) प्रेमकी मूर्ति हैं।

राधाका वह प्रेम श्रीकृष्णमें दिव्य उन्माद पैदा करता है, उन्हें सदा विह्वल बनाये रखता है। वे सोचते ही रह जाते हैं कि राधा-प्रेममें ऐसी कौन-सी शक्ति है जो उन्हें सदैव विभोर किये रहती है। राधाका वह प्रेम कैसा है, श्रीकृष्ण यह जानना चाहते थे।

२—**'अनया आस्वाद्यः, येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः'** अर्थात् राधा मेरी जिस माधुरीका आस्वादन करती हैं, वह माधुरी कैसी है?

श्रीकृष्ण माधुर्यकी खान हैं। जगत्‌में सभी कुछ अपूर्ण है, एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्ण हैं। उनका माधुर्य भी पूर्ण है। उस माधुर्यको सम्पूर्णरूपसे उपभोग कौन कर पायेगा? त्रिलोकीमें राधाके अतिरिक्त और कोई नहीं। एकमात्र राधा अपने प्रेमके माध्यमसे श्रीकृष्णके उस माधुर्यको सम्पूर्णतः भोगती हैं।

राधिकाका प्रेम घनीभूत है। वे श्रीकृष्णसे इतना प्रेम करती हैं कि उनके माधुर्यका आस्वादन करनेकी उत्कण्ठा प्रतिक्षण बढ़ती रहती है। इधर राधाका प्रेम बढ़ता है, उधर श्रीकृष्णका माधुर्य विकसित होता है। दोनोंमें प्रतियोगिता-सी चलती है। प्रेम और माधुर्य एक-दूसरेकी वृद्धि करते जाते हैं। उनका वह माधुर्य कैसा, जो राधाके प्रेमको निरन्तर बढ़ाता है, श्रीकृष्ण दूसरी बात यह जानना चाहते थे।

३—**'सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वा'** अर्थात् राधाकी सुखानुभूति कैसी है?

राधा श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं और सुख अनुभव करती हैं। राधा हैं गोपी-शिरोमणि। उनका वह गोपीप्रेम नित्य—अप्राकृत वस्तु है। उसमें कामकी गंध-तक नहीं। काम अर्थात् स्वयंकी इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेकी इच्छा। राधाके प्रेममें श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इच्छा है। यदि राधाका प्रेम ऐसा न होता, तो क्या ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव गोपीपदरजकी कामना करते—

**'वन्दे नन्दव्रज स्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।'**

उन्हें प्रेम कर राधाके मानसमें जो सुख-तरङ्गें उठती हैं, वे कैसी हैं, श्रीकृष्ण तीसरी बात यह जानना चाहते थे।

उपर्युक्त तीनों बातें जाननेकी इच्छा श्रीकृष्णके मनमें जगी। राधाका प्रेम कैसा है, उनका स्वयंका माधुर्य कैसा है, राधाका सुख कैसा है?—इन बातोंका उत्तर श्रीकृष्णको कैसे मिल सकता था? उनकी तीनों इच्छाओंकी पूर्ति कैसे हो सकती थी? यह तभी सम्भव होता जब वे राधा बनते।

श्रीकृष्णके लिये स्वयंको छिपाना बड़ा आवश्यक था। आश्रय-जातीय प्रेम-सुख-अनुभूति प्राप्त करनेके लिये राधाके अन्तरमें प्रवेश करना था। राधा-भाव धारण करनेके अतिरिक्त और कोई चारा न था। श्रीकृष्णकी तीन वाञ्छाएँ व्रज-लीलामें पूरी न हुईं। बहुत सोच-विचार करनेपर उन्हें रास्ता सूझा—राधाका भाव धारण करूँ, राधाकी अङ्ग-कान्ति ओढ़ूँ। नवद्वीपमें 'राई-कानू-एकाकृति' ( राधा-कृष्ण-मिलित तनु ) श्रीचैतन्यदेवके अवतारका प्रधान उद्देश्य उक्त तीन वाञ्छाओंकी पूर्ति था।*

श्रीकृष्ण राधा बने। हृदयमें राधा-भाव धारण किया। उन्हें अनुभूति हुई कि वे राधा हैं। यदि बाहर स्वयंका कृष्णवर्ण रहता, तो उस भावकी पूरी पुष्टि न होती। यही कारण है कि कृष्णने राधाकी अङ्ग-कान्ति भी धारण की। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण तो हैं ही, राधा भी हैं। भीतर राधा-भाव, बाहर राधा-वर्ण। चैतन्यदेव राई-कानू-एकाकृति अर्थात् राधा-कृष्ण-मिलित तनु हैं। रसराजस्वरूप कृष्ण और महाभाव-स्वरूपिणी राधा मिलकर गौराङ्ग महाप्रभु हुए हैं। वे भावनिधि हैं, ऐसा कोई भाव नहीं जो उनमें न हो। फिर भी, राधा-भावकी अधिकता है—

**भावनिधि श्रीगौरांग भावेर शावल्य।**
**सब भाव हइते राधाभावेर प्रावल्य॥**

महाभाव-रसराजमूर्ति श्रीगौराङ्गमें विरह-मिलन दोनों धाराएँ एक साथ विद्यमान हैं, निरन्तर विद्यमान हैं। राधाभावावेशमें जब वे यह अनुभव करते कि 'कृष्ण आ गये, उनके साथ हैं, उनके सामने हैं,' तो वे मिलन-सुख भोगते, आनन्दाप्लावित हो जाते। फिर जब वे यह अनुभव करते कि 'कृष्ण चले गये, उन्हें छोड़ गये, नहीं लौटे' तो वे विरह-सागरमें डूब जाते, फूट-फूटकर रोते, अपने शरीरको क्षत-विक्षत कर बैठते। दरअसल, चैतन्य अवतारका प्रधान उद्देश्य था राधाभावका आस्वादन। इस उद्देश्यकी पूर्ति हुई नीलाचल-( जगन्नाथपुरी-) में। राधाभावास्वादनके लिये ही निमाई पण्डित-( चैतन्य महाप्रभु-) ने संन्यास लिया और पुरीमें अठारह वर्षतक 'गम्भीरा' में वास किया। इस अवधिमें वे निरन्तर राधा-भाव-विभावित हुए रहे और उन्होंने अपने मात्र दो अन्तरङ्ग भक्त-स्वरूप दामोदर एवं राय रामानन्दके साथ निगूढ़ व्रज-रसका

*—श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवास्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥
( विदग्धमा० १।२, चैतन्यचरितामृत १।१।५ )

आस्वादन किया । वृन्दावन-लीलामें तो श्रीकृष्ण आस्वाद्य थे, राधिका आस्वादिका थीं । नवद्वीप-लीलामें आस्वाद्य और आस्वादक—दोनों ही श्रीकृष्ण हैं । यह है भारतीय अवतारवादकी एक अभूतपूर्व रहस्यात्मक घटना ।

कृष्ण-चैतन्यके अवतारका दूसरा प्रमुख उद्देश्य था—प्रेमा-भक्तिका वितरण। वैधी-भक्ति प्रदान करनेका काम श्रीकृष्णकी अन्तरङ्ग शक्तियाँ कर सकती हैं, किंतु प्रेमा-भक्ति वे स्वयं ही दे सकते हैं—यह प्रेमा-भक्ति पहले कभी किसीको नहीं दी गयी, ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ उस प्रेमा-भक्तिको चैतन्यदेवने कृपाकर आ-पामर जनसाधारणको खुलेहाथों लुटायी। अन्यथा वह साधनगम्य कहाँ ? परंतु इस प्रेमाभक्तिका भण्डार तो था राधिकाके पास । इसलिये श्रीकृष्णने सोचा—पहले उस भण्डारसे मैं स्वयं चोरी करूँ। फिर उस दुर्लभ वस्तुका लोगोंमें वितरण करूँ ! चुरानेका अर्थ था राधाके हृदयमें जाकर बैठना—राधाकी भाव-कान्ति धारण करना । परिणाम निकला नवद्वीपमें ( वर्णभाव चौर ) चैतन्य महाप्रभुका प्राकट्य ।

श्रीरूपगोस्वामी इस 'चिर अनर्पित'— राधाप्रेम ( प्रेमाभक्ति ) को उन्नत-उज्ज्वल कहा है और इसे संज्ञा दी है 'स्वभक्ति' की । स्वभक्ति अर्थात् वह प्रेम ( भक्ति ) जिसके विषय श्रीकृष्ण स्वयं हैं । वे तो विषय हैं और आश्रय हैं राधा । राधासे लेकर ही तो वे उस प्रेमको जन-सामान्यमें बाँटेंगे । श्रीकृष्णने करुणा-कर उस चिर-अनर्पित वस्तुको लुटानेके लिये अपने श्याम-वर्णको राधाके गौरवर्णसे ढककर राधा-भावसे नवद्वीपमें अवतार लिया । रूपगोस्वामीका वह श्लोक इस प्रकार है—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम् ।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥
( चैतन्यचरितामृत १ । १ । २ )

दुष्प्राप्य प्रेमा-भक्तिरूपिणी लक्ष्मीका वितरण करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कलियुगमें कृपापूर्वक कृष्णचैतन्यका रूप ग्रहण किया । पर उन्होंने भाव एवं वर्ण श्रीराधाका ग्रहण कर लिया । राधाका गौर वर्ण धारण कर कृष्ण चैतन्य बन गये । गोरे हो गये ।

नवद्वीप-लीलामें श्रीकृष्णने राधा बनकर कृष्णका आस्वादन किया, राधा-प्रेम छककर पिया और वे ऊँच-नीच, ज्ञानी-भक्त, ब्राह्मण-शूद्र, भला-बुरा—ये सब भेद-भाव सोच-विचारकर चैतन्यलीलामें समा गये । हरिनामके माध्यमसे खूब प्रेम लुटाया । चैतन्यलीलाके हरिनाम-संकीर्तनमें एक और विशेषता थी । गौराङ्ग-रूपा राधिकाने श्रीकृष्णका-आस्वादन कर जो सुख-आनन्द पाया, उसकी मधुरता नामसंकीर्तनमें उँड़ेल दी । गौराङ्गदेवने हरिनाम-पुष्पोंकी जो माला बनायी, उसे उन्होंने राधाप्रेमके धागेमें पिरोयी और ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरेके गलेमें डाल दी । उनके नित्य-परिकर नित्यानन्दने तो मार खा-खाकर नाम-प्रेम लुटाया । चैतन्यदेवका उदय वस्तुतः विशुद्ध समाजवाद और विश्वबन्धुत्वका उदय है ।

---

कैछन राधा प्रेमा कैछन मधुरिमा कैछन सुखे तिंह भोर ।
एतिन वांछित धन व्रजे नहिल पूरण कि करब ना पाइया ओर ॥
भाविया देखल मने राधार स्वरूप बिने ए वासना पूर्ण कभू नय ।
राधाभाव कांति धरि राधाप्रेम गुरू करि नदिया ते करल उदय ॥

—बलरामदासजीका श्याम बंगला अनुवाद

# व्यवहारमें परमार्थकी कला

( परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके एक प्रवचनके आधारपर )

हमारे मनमें यह बात आयी है कि यदि संसारमें रहना आ जाय तो हमारी मुक्ति हो जाय। संसारमें रहना एक विद्या है। उस विद्याको ठीकसे समझ लें और काममें लावें तो बेड़ा पार है। किसी भी काममें लगो, उस कामको करनेकी विद्या आनी चाहिये और उस कामको अच्छी तरह करना चाहिये। जैसे रसोई बनाना है। रसोइयाको रसोई बनाना तो आता है, पर वह ठीकसे रसोई बनाता ही नहीं तो रसोई अच्छी नहीं बनती। दूसरा रसोई बनाता है, पर उसे रसोई बनानी आती नहीं तो रसोई बढ़िया नहीं बनती। इसलिये किसी भी कार्यमें ज्ञान और कर्म—दोनोंकी ही आवश्यकता है।

अब यह समझना है कि संसारमें रहनेकी विद्या क्या है ? मान लीजिये कि एक मनुष्य है, जिसके माता-पिता, भाई-भौजाई, स्त्री-पुत्र आदि हैं तो वह उनके साथ केवल उन्हींके हितके लिये व्यवहार करे, केवल उन्हींकी सेवा करे, केवल उन्हींको सुख पहुँचावे। वह अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न रखे। जो अपने सुखकी इच्छा करता है, उसको संसारमें रहनेकी कला आयी ही नहीं। आप अपने कुटुम्बमें रहते हैं तो कुटुम्बकी सेवा करते हैं। यदि आप बाहर चले जाते हैं तो वहाँ सेवा नहीं करते, अपितु स्वयं सेवा लेते हैं। कोई हमें मार्ग बता दे, हमारी सहायता कर दे, हमको रहनेकी जगह दे दे, हमको जल पिला दे, हमें ऐसा कुछ दे दे, जिससे हम अपनी यात्रा ठीक कर लें, इस प्रकार सेवा चाहते रहनेसे हमाराकल्याण नहीं होता, उद्धार नहीं होता।

हम किसीसे कुछ भी चाहते हैं तो पराधीन हो जाते हैं—यह एक पक्का सिद्धान्त है। जब हम किसीसे कुछ नहीं चाहते, तब हम बिल्कुल पराधीन नहीं होते, सर्वथा स्वाधीन बने रहते हैं। संसारसे कुछ भी चाहना अपने-आपको पराधीन बनाना है। संसार हमसे बहुत कुछ चाहता है। यदि हम उसकी चाहना पूरी करते हैं तो हम पराधीन हैं। इसलिये अपनी चाहना तो रखें नहीं और दूसरोंकी न्याययुक्त चाहना अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार पूरी करें। यह है जीनेकी कला।

अब प्रश्न होता है कि जब हम उनसे कुछ भी नहीं चाहते तो फिर उनकी चाहना पूरी क्यों करें। इसका उत्तर यह है कि उनकी चाहना-पूर्ति करनेसे अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य आ जाती है। यदि अपने स्वार्थकी बातें ही हम करते रहेंगे तो अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य नष्ट हो जायगी। इसलिये हम दूसरोंकी सेवा-सहायता करते रहें तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे। संसारमें रहकर स्वतन्त्र होना ही संसारसे ऊँचा उठना है और यही मुक्ति है।

**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।**
**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥**
( गीता ५। १९ )

'जिनका मन साम्य अवस्थामें स्थित हो गया है, उन पुरुषोंने यहाँ जीवित अवस्थामें ही ( मानो ) संसारको जीत लिया।' साम्यावस्था क्या है ? अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके मिलनेपर उनमें सुख-दुःखका अनुभव होनेपर भी हर्ष-शोकके अनुभवका न होना। संसारकी कोई भी परिस्थिति हमें डिगा न सके तो हमने विजय प्राप्त कर ली। यदि संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलताने हमपर असर कर दिया तो हम हार गये। यह असर कब नहीं करेगी जब हम संसारमें अपने लिये नहीं रहेंगे अपितु संसारके लिये ही रहेंगे। इस प्रकार रहनेसे संसारसे ऊँचे उठ जायँगे।

*

यदि हमारे माता-पिता हैं तो हम उनकी सेवा करें। उनसे चाहना न रखें। उनका दिया हुआ ही शरीर है, सामर्थ्य है। हमें जो कुछ मिला है, उन लोगोंसे ही मिला है, अतः उन लोगोंके लिये ही काम करना है, अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये नहीं। हमें जिन्होंने शरीर दिया, समझ दी, योग्यता दी, उनकी दी हुई वस्तुके द्वारा केवल उन्हींकी सेवा करनी है अर्थात् उनसे मिली हुई वस्तु उन्हें ही दे देनी है और उन्हें देनेके लिये ही हमें रहना है, अपने लिये नहीं। यदि अपने लिये हम नहीं रहेंगे तो वे हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें अथवा बुरा, उसका हमपर असर नहीं पड़ेगा; क्योंकि हम अपने साथ अच्छे बर्तावके लिये वहाँ रहते ही नहीं हैं। हमें तो उनकी सेवा कैसे हो जाय, उनको सुख कैसे पहुँचे, उनका हित कैसे हो, उनका उद्धार कैसे हो, उनको आराम कैसे पहुँचे—यही भाव रखना है। इस प्रकार करनेसे हम दुःखी हो जायँगे—ऐसा प्रश्न उठ सकता है, परंतु हम दुःखी तभी होंगे, जब उनसे कुछ चाहेंगे और वे नहीं कर देंगे। हम चाहें ही नहीं तो दुःखी कैसे होंगे? हम तो केवल उनके सुखके लिये रहते हैं। उनको सुख पहुँचाना ही हमारा काम है।

प्रश्न—हम जिनकी सेवा करें, वे यदि हमें दुःख पहुँचायें तो हम क्या करें?

उत्तर—वे दुःख पहुँचायें तो हमारा बहुत शीघ्र कल्याण हो जाय। हम सेवा करते हैं और यदि वे दुःख देंगे तो दुःख देनेसे हमारे पापोंका नाश हो जायगा और पापोंका नाश हो जानेसे अन्तःकरण निर्मल हो जायगा। सेवा करनेसे त्याग होगा। हमको दुगुना लाभ होगा। उनको सुख कैसे पहुँचे—इसके लिये ही संसारमें रहना है। यही हमारा कर्तव्य है। चाहना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारा कर्तव्य तो उनकी चाहना पूरी करना है। उनकी चाहना पूरी करनेमें दो बातोंका ध्यान रखना है। एक तो उनकी चाहना अन्याययुक्त तो नहीं है अर्थात् चाहना न्याययुक्त हो, दूसरे—हमारी सामर्थ्यके बाहरकी बात तो नहीं है, यदि सामर्थ्यके बाहर हो तो हाथ जोड़कर उनसे क्षमा माँग लें कि 'भाई! हम तो समर्थ नहीं हैं, हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है, इसलिये आप क्षमा करें।' यदि सामर्थ्य हो तो उनकी चाह पूरी कर दें।

इस प्रकार संसारमें जलमें कमलके पत्तेकी भाँति रहे। कमलका पत्ता जलमें रहते हुए जलसे भीगता नहीं। मोतीकी तरह ऊपर लुढ़कता रहता है, उसमें भेदन नहीं होता। जैसे कपड़ा भीग जाता है, ऐसे वह भीगता नहीं। ऐसे ही हम अपने लिये न रहकर केवल सेवाके लिये रहें तो हम भीगते नहीं अर्थात् संसारमें फँसते नहीं। केवल उनके लिये ही रहें, अपने लिये रहें ही नहीं, अपने लिये कुछ भी न चाहें।

प्रश्न—कहते हैं कि कमलके पत्तेको जीवन (पानी) तो जलाशयमें ही मिलता है?

उत्तर—आपके शरीरका निर्वाह भी समष्टिसे ही होगा, परंतु केवल सेवा करनेके लिये निर्वाहमात्र लेना चाहिये। हमारी क्रियाएँ हमारे लिये न हों। उनसे मिली हुई वस्तु उनको ही देते रहें। हम लेनेकी इच्छाका सर्वथा त्याग कर दें। इस प्रकार सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जाता है और आगे नहीं चाहेंगे तो नया ऋण उत्पन्न नहीं होता है। उनकी सेवा नहीं करेंगे तो उनका ऋण हमारेपर रहेगा और उनसे चाहते रहेंगे तो नया ऋण हमपर चढ़ता रहेगा। अतः चाहना नहीं करनी चाहिये।

कोई मनुष्य मर जाता है, तो उसकी मृत्युपर दुःख होता है। उस दुःखमें दो कारण होते हैं—एक तो उससे सुख लिया है, पर सुख दिया नहीं है और दूसरा फिर सुख लेनेकी आशा रही है। तब उसके मरनेसे दुःख होता है। यदि हमने उससे सुख न लिया होता तो उसके मरनेसे दुःख नहीं होता। जो हमसे अपरिचित है, जिसका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह मरता है तो उसके मरनेका हमें दुःख नहीं होता। आगे सुख लेनेकी आशा न रहे, तो भी दुःख नहीं होता। जैसे नब्बे या सौ वर्षोंका बहुत बूढ़ा आदमी मर जाय तो उसकी मृत्युका दुःख नहीं होता। लोग तो यहाँतक कहते हैं कि उसका मरण विवाह-जैसी बात है, बड़े आनन्दकी बात है ! कारण क्या है ? अब उससे सुखकी कोई आशा नहीं रही। किसी तरह वह हमारी सेवा करेगा, हमारा हित करेगा, ऐसी आशा नहीं रही। इसलिये दुःख नहीं होता। जवान—बीस-पच्चीस वर्षकी आयुका व्यक्ति मर जाता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे आशा बाँध रखी है कि सुख मिलेगा। आशा ही दुःखोंका कारण होता है—**'आशा हि परमं दुःखम्'**—दुःखोंका मुख्य कारण आशा है और नैराश्य—अनपेक्षा परम सुख है—**'नैराश्यं परमं सुखम्।'** दुःख और सुख दोनोंके साथ **'परम'** शब्द दिया है। तात्पर्य यह कि उससे आशा न रखकर उसकी आशा पूरी करनेका उद्योग करें। उससे आशा न रखनेसे उसकी मृत्युका दुःख नहीं होता। पच्चीस वर्षका जवान मरता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे आशा रहती है। उससे भी आशा न रहे तो दुःख नहीं होता। मानो वह पंद्रह वर्षकी अवस्थासे बीमार हुआ और पच्चीस वर्षका हो गया। वैद्यों-डाक्टरोंने जवाब दे दिया कि यह अब जी नहीं सकता, यह तो अब मरेगा। हमने दस वर्ष उसकी सेवा कर दी, लिया कुछ नहीं और लेना कुछ है नहीं तो उसके मरनेपर दुःख नहीं होगा। इसलिये दुःख उसके मरनेका नहीं है, वियोगका नहीं है, दुःख तो उससे सुख चाहते हैं, इस बातका है। यहाँ चाहना ही दुःख बन जाती है।

संसारमें हम रहें, संसारसे हम सुख न चाहें और सुख देते रहें, सेवा करते रहें। सेवा लेनेकी चाहना बिल्कुल भीतरसे उठा दें तो संसारमें हमको रहना आ गया और हम मुक्त हो गये। लेनेकी इच्छा ही बन्धन है। उल्टी बुद्धि हो गयी कि हमें सेवा मिल जाय तो हम सुखी हो जायँगे। कोई हमारी सेवा करेगा तो हम सुखी हो जायँगे। यहाँ बुद्धिकी विपरीतता यह है कि सेवा लेंगे तो ऋणी हो जायँगे, सुखी कैसे होंगे ! ऋण चढ़ जायगा ! ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं होती। ऋणी तो तभी मुक्त होगा, जब ऋणदाता उसे क्षमा कर दे। संसारके ऋणी रहते हैं, तबतक मुक्ति नहीं होती। इसलिये इस संसारसे उऋण हो जायँ। सेवा ली है तो बदला चुका दें। हमसे वे जो सेवा चाहते हैं, उनकी वह सेवा कर दें।

प्रश्न—कहते हैं, ऐसा करनेसे वे सेवा लेनेवाले ऋणी हो जायँगे ?

उत्तर—उनके ऋणी होनेसे हम बन्धनमें नहीं पड़ेंगे।

कोई दूकानदार भाई अपनी दूकान उठाना चाहता है तो वह ऐसा करे कि जो दूसरोंसे लिया है, वह दे दे और उसने जिसको दिया है, वह यदि वापस दे दे तो ठीक है, नहीं दे तो छोड़ दे, तब तो दूकान उठ जायगी। वह पूरा-का-पूरा दिया हुआ वापस लेना चाहेगा, तब तो दूकान कभी उठेगी ही नहीं; क्योंकि पुराना लेनेके लिये कुछ नया माल देना पड़ेगा। फिर उसमें हमारा बाकी

बना ही रहेगा। इस प्रकार पूरा लेकर कभी भी उठा नहीं सकते। ऐसे ही संसारसे पूरा लेकर उऋण नहीं हो सकते। लेनेका खाता ही उठा दें, तब देना ही देना रहेगा। इस कारण सबको दें।

माता-पिताको देना है, भाई-भौजाईको भी देना है, स्त्री-पुत्रको भी देना है। बहिनोंके लिये उनके पति और पुत्र-पुत्रियोंको देना है। सास-ससुरको भी देना है। देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी सबकी सेवा करनी है। इनसे लेना है ही नहीं। लिया कि फँसे! जहाँ लेनेकी इच्छा हुई कि फँसे। एक ग्रामीण कहावत है—**'गरज गधे न बाप करे'**। गधेपर माल लादकर चलाते हैं तो उसको कहते हैं—**'बापो-बापो चालो सा!'** गरज-वाला आदमी मुक्त नहीं हो सकता। गधेको बाप बनाना पड़े, बताओ कितना नीचे उतरना पड़ा है। परंतु उससे काम लेना है, इसलिये इतना नीचे उतरना पड़ा और लेना ही नहीं हो तो हम स्वतन्त्र हैं, विजयी हैं।

आपको एक विचित्र बात बतावें! ध्यान दें! भगवान्‌के हम भक्त हो सकते हैं। भक्त तो होते हैं, पर गुलाम नहीं होते; क्योंकि लेना नहीं है भगवान्‌से भी! उनसे लेना नहीं रहता, तभी वे कहते हैं—**'मैं हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि!'** कब! जब कि लेना नहीं चाहते। चारों प्रकारके भक्त उदार हैं, पर ज्ञानी—निष्काम भक्त तो भगवान्‌का आत्मा ही है। वह अत्यन्त प्यारा भक्त है। निष्काम ज्ञानी भक्तको भगवान् अत्यन्त प्यारे हैं, कारण कि वह उनसे कुछ नहीं चाहता। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु तो कुछ-न-कुछ चाहते हैं। वे चाहते हैं तो भगवान्‌के यहाँ घाटा थोड़े ही है। वे धन भी दे सकते हैं, दुःख भी दूर कर सकते हैं, तत्त्वज्ञान भी दे सकते हैं। उनमें देनेकी सामर्थ्य तो पूरी है, परंतु उन चाहनेवाले भक्तोंका पद कम हो जाता है।

भगवान् कहते हैं कि मैं तो देता रहूँ—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्।** (गीता ९। २२)' परंतु तुम चाहो नहीं—**'निर्योगक्षेम आत्मवान् भव'** (गीता २। ४५) अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा मैं स्वयं करूँगा, परंतु तू चाहना मत कर। कितनी बढ़िया बात कही! न चाहनेसे प्रेम होगा। किसीसे भी चाह लो तो प्रेम नहीं होगा। आपसमें चाहनेसे बन्धन होगा। वह इससे चाहता है, यह उससे चाहता है तो आपसमें प्रेम नहीं होगा। दोनों आपसमें चाहते हैं, दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। दोनों ही ठग! दोनों ही भोगी। वह इससे चाहे, यह उससे चाहे तो फँसेंगे दोनों ही। संसारसे चाहना मानो ठगाईमें फँसना है। इसलिये चाहनाका त्याग करके सेवा करनी है। यह संसारमें रहनेकी असली विद्या है। यही है व्यवहारमें परमार्थकी कला। यही है जीवनकी कल्याणकारी कला।

आप भाई-बहनोंसे प्रार्थना है कि अपने घरोंमें ऐसे रहो, जैसे कोई सज्जन पथिक रात्रिभर आकर रहता है। वह कहता है, तुम सब भोजन कर लो, उसमेंसे जो बचेगा वह मैं पा लूँगा। तुम सब अपनी-अपनी जगहमें रह जाओ, फालतू जगहमें मैं रह जाऊँगा; कपड़ा-लत्ता जो आपके कामके हों, उन्हें आप अपने काममें ले लो, फालतूसे मैं अपना निर्वाह कर लूँगा। रात्रिमें आग लग जाय, चोर आ जाय, डाकू आ जाय, संकट आ जाय, बीमारी आ जाय तो वह सबसे आगे होकर सामना करता है; क्योंकि वह सोचता है कि हमने इनका अन्न-जल लिया है, विश्राम लिया है, इसलिये इनकी सेवा करना हमारा काम है। काम तो करे सबसे ज्यादा, पर ले कुछ नहीं तो वह पथिक बँधता नहीं। लेनेकी इच्छा रखता है तो फँस जाता है। इसलिये भाई! सेवा करनी है। थोड़ा अन्न-जल लेना है, वह भी शरीर-निर्वाहके लिये; क्योंकि शरीर-निर्वाह न होनेसे सेवा कैसे बनेगी!

इसलिये सेवा करनेके लिये अन्न-जल लेना है। संसारसे अन्न, जल, वस्त्र लेना है, केवल सेवा करनेके लिये, अपने भोग-आरामके लिये नहीं।

हमारे एक वृद्ध सन्त कहते थे कि संसारमें रबड़की दड़ी (गेंद) की तरह रहना चाहिये। वह फुदकती रहती है, कहीं चिपकती नहीं। मिट्टीका लोंदा नहीं बनना है कि जहाँ जाय, वहीं चिपक जाय। यह संसारमें रहनेकी असली विद्या है और व्यवहारमें परमार्थकी अद्भुत कला है। इस प्रकार संसारमें रहनेसे बन्धन नहीं हो सकता। उसकी मुक्ति स्वतः सिद्ध है। (मुक्ति ही परम कल्याण है)।

नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

# श्रीमद्भागवतके उद्देश्य और उसकी महिमा

[ पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराजके काशी (ज्ञानवापी-प्राङ्गण)में हुए प्रवचनका सारांश ]

(२)

भक्ति केवल मन्दिरमें नहीं, अपितु जहाँ भी बैठ जाइये वहीं हो सकती है। इसके लिये किसी देश या कालका नियम नहीं है। यह तो चौबीसों घंटे करनी चाहिये। जो कालादिका भेद रखता है, वह भक्ति नहीं कर सकता। भक्ति सतत करो, निरन्तर करो। चौबीसों घंटे ब्रह्मसम्बन्ध बनाये रखो। हमेशा ध्यान रखो, सदा सावधान रहो कि मायाके साथ सम्बन्ध न हो जाय। यह भागवतका संकेत है।

जब वसुदेवजीने श्रीकृष्णको मस्तकपर रखा, तब उनका ब्रह्मसम्बन्ध हुआ, जिससे उनके हाथ-पैरकी बेड़ियाँ टूट गयीं; परंतु योगमायाको लेकर जब वापस पहुँचे तो फिर बन्धनमें पड़ गये। वसुदेवजीका ब्रह्मसम्बन्ध तो हुआ, परंतु वे इसको टिकाये न रख सके। ब्रह्म-सम्बन्धको टिकाये रखना चाहिये। ईश्वरका स्मरण छोड़ना नहीं चाहिये। भक्त भगवान्‌के साथ खेलते हैं। जीव जो क्रिया करता है, (जब वह उसे) ईश्वरके लिये करता है तो उसकी प्रत्येक क्रिया भक्ति बन जाती है। मनके साथ भक्तिका विशेष सम्बन्ध है। जिससे मनसे भक्ति नहीं होती, उसे तनसे सेवा करनेकी आवश्यकता है। मानसिक सेवा श्रेष्ठ है। साधु-संत तो मानसिक सेवामें ही तन्मय रहते हैं। यदि ऐसी सेवा-तन्मयता हो जाये तो जीव कृतार्थ हो जाता है। भक्तिमार्गकी आचार्या गोपियाँ हैं। उनका आदर्श मन और आँखोंके सामने रखो। ज्ञानमार्गसे, योगमार्गसे जिस ईश्वरके आनन्दका अनुभव होता है, उसी आनन्दका अनुभव इस भक्तिसे सहज प्राप्त होता है। ज्ञानी योगियोंको जो ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, वही इस साधारण जीवात्माको भी प्राप्त हो, ऐसे उद्देश्यसे श्रीभागवतकी रचना की गयी है। इसमें तो भगवान्‌का स्वरूप बताया गया है। भगवान् कैसे हैं? इसका विवेचन किया गया है और उनमें लीन होनेका सरल उपाय बताया गया है—

तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः।

परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—तीनों प्रकारके तापोंको नाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी हम वन्दना करते हैं। दुःख मनका धर्म है, आत्माका नहीं। मनुष्य दुःखमें ईश्वरका स्मरण करता है, जिससे उसका परमात्माके साथ अनुसम्बन्ध होता है और तब उसे आनन्द मिलता है। जीवका स्वभाव सुन्दर नहीं है। हो सकता है कि परमात्माका भी शरीर कभी सुन्दर न रहा हो। कूर्म-अवतार, वाराह-अवतारके शरीर सुन्दर नहीं थे। परंतु श्रीपरमात्माका स्वभाव सुन्दर, अतिशय सुन्दर है। दूसरोंके दुःख दूर करनेका परमात्माका स्वभाव है। इसीलिये तो श्रीभगवान् वन्दनीय हैं। उनके वन्दनसे तीनों तापोंका विनाश होता है।

बहुत लोग पूछते हैं कि वन्दना करनेसे क्या लाभ है? वन्दना करनेसे पाप जलते हैं। श्रीराधा-कृष्णकी वन्दना करेंगे तो आपके सारे ताप नष्ट होंगे। परंतु वन्दना अकेले शरीरसे नहीं, मनसे भी करो, अर्थात् श्रीराधाकृष्णको हृदयमें पधराओ, स्थापित करो और उनको प्रेमसे नमन करो। नमन प्रभुको बन्धनमें डालता है। दुःखमें जो साथ दे वह ईश्वर है और सुखमें जो साथ दे वह जीव है। प्रभु (ईश्वर) सर्वदा दुःखमें ही साथ देते हैं। अतः प्रभु (ईश्वर) वन्दनीय हैं।

ईश्वरने जिस-जिसको सहायता दी है, उस-उसको दुःखमें ही सहायता दी है। पाण्डव जबतक दुःखमें थे, तबतक श्रीकृष्णने उनकी मदद की। पर पाण्डव जब सिंहासनपर बैठे, तब श्रीकृष्ण भी वहाँसे चले गये। ईश्वर जिसे भी मिले हैं, दुःखमें ही मिले हैं। सुखका साथी जीव है और दुःखका साथी ईश्वर हैं। इस बातका सतत मनन करो। मनुष्य धन पानेके लिये जितना प्रयत्न करता है ( और दुःख सहन करता है ) उससे कहीं कम प्रयत्न यदि ईश्वरके लिये भी करे तो उसे ईश्वर अवश्य मिलेंगे। कन्हैया तो बिना बुलाये गोपियोंके घर जाता था, परंतु वह मेरे घर क्यों नहीं आता है—ऐसा कभी विचार भी किया है? आप भी निश्चय कीजिये कि मैं भी ऐसे सत्कर्म करूँगा कि कन्हैया मेरे घर भी आयेगा। श्रीभगवान्‌के आगे हाथ जोड़ने, मस्तक झुकानेका क्या अर्थ है? हाथ क्रियाशक्तिका प्रतीक है। हाथ जोड़नेका अर्थ है कि मैं अपने इन हाथोंसे सत्कर्म करूँगा। मस्तक झुकानेका अर्थ है—मैं अपनी बुद्धि-शक्तिको, हे नाथ! आपको अर्पित करता हूँ। वन्दना करनेका अर्थ है—अपनी क्रियाशक्ति और बुद्धिशक्ति श्रीभगवान्‌को अर्पित करना। श्रीभगवान्‌का वन्दन करनेसे पाप-तापका नाश होता है। निर्भय होना हो तो प्रेमसे भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना करो। हमारे भगवान् दयाके सागर हैं। केवल वाणी और शरीरसे नहीं, परंतु हृदयसे भी वन्दना करो। हृदयसे वन्दना करनेसे श्रीभगवान्‌के साथ ब्रह्मसम्बन्ध होता है।

जब भी घरसे बाहर निकलो, श्रीठाकुरजीकी वन्दना करके ही निकलो। उनका पवित्र नाम लेकर निकलो, नारायण, नारायण, नारायण करते निकलो।

ईश्वर प्रेम चाहते हैं और प्रेम ही देते हैं। ईश्वर यही मानते हैं कि यह मेरा है और मुझसे भीख माँगता है। वन्दना करनेसे ईश्वरके साथ सम्बन्ध होता है। इस जीवका स्वभाव ऐसा है कि वह वन्दना नहीं करता है। बाहरसे घरमें आओ तो उस समय भी ईश्वरकी वन्दना करो। मार्गमें चलते हुए भी वन्दना करो। परमात्मा श्रीकृष्णकी आरम्भमें वन्दना करे, प्रेमसे परमात्माको प्रणाम करे, तो उसपर श्रीपरमात्मा प्रसन्न होते हैं। जीव चाहे और कुछ न करे, इतना तो करे ही कि श्रीपरमात्माका बार-बार वन्दन करे।' वन्दना सद्भावसे करो। प्रभुके हमपर अनन्त उपकार हैं। श्रीपरमात्माने हमारे अनन्त उपकार किये हैं। बोलने और खानेको जीभ दी है। देखनेके लिये आँखें दी हैं। सुननेके लिये कान दिये हैं। विचार करनेके लिये मन दिया है। बुद्धि और विचारशक्ति भी परमात्माने ही दी है। ईश्वरके उपकारोंको याद करो, याद रखो और कहो कि 'हे भगवन्! मैं आपका ऋणी हूँ।' ऐसी उत्तम भावनाके साथ वन्दना करो, कहो कि 'मेरे परमात्मन्! आपने मुझपर कृपा की है। आपकी कृपासे मैं सुखी हूँ। मेरे पाप तो अनन्त हैं, परंतु हे नाथ! आपकी कृपा भी अनन्त है। आपकी कृपाका पार किसे लगा!' उत्तम भावपूर्वक की गयी वन्दना अवश्य सफल होती है।

विचार करो कि प्रभुने मुझे जो कुछ दिया है, क्या मैं उसके योग्य हूँ। नाथ! मैं तो योग्य नहीं हूँ, मैं तो पापी हूँ, फिर भी श्रीठाकुरजीने मुझे जगत्‌में सम्पत्ति और प्रतिष्ठा दी है। नाथ! आपके उपकार अनन्त हैं। स्वामिन्! मैं इसका बदला नहीं चुका सकूँगा। मैं तो आपकी केवल वन्दना ही करता हूँ। वन्दना करनेसे अभिमानका भार कम होता है। इसीलिये श्रीभागवतका आरम्भ भी वन्दनासे किया गया है और वन्दनासे ही समाप्ति भी की गयी है—

**तं नमामि हरिं परम्।**

अकेले श्रीकृष्णकी वन्दना नहीं की है, अपितु कहा है—'श्रीकृष्णाय राधाकृष्णाय वयं नुमः।' श्रीजीका अर्थ है राधाजी। श्रीराधाजीके साथ विराजमान श्रीठाकुरजीकी मैं वन्दना करता हूँ। परमात्माकी वन्दना कर लेनेके बाद श्रीमद्भागवतके वक्ता श्रीशुकदेवजीकी वन्दना की गयी है।

पढ़ने और विचारनेकी अपेक्षा जीवनमें आचरण अधिक श्रेष्ठ है।

वेदोंका अन्त और पुराणोंका पार नहीं है। मनुष्य-जीवन लघु है और शास्त्र अनन्त हैं; परंतु उस एकको अर्थात् ईश्वरको जान लोगे तो सब कुछ जान जाओगे। कलियुगका मनुष्य कम समयमें भी श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। यह श्रीमद्भागवतमें बताया है। फिर भी मनुष्य प्रमाद करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—सात ही दिनोंमें राजा परीक्षित्‌ने सद्गति प्राप्त की थी, यह मैंने अपनी आँखोंसे देखा है। परीक्षित्‌जीका उद्धार हुआ, फिर हम सबका उद्धार क्यों नहीं होता है? हमें परीक्षित्-जैसे श्रोता होना चाहिये। वक्ता भी श्रीशुकदेवजी-जैसा बने तो उद्धार हो जाय। हम सब परीक्षित् ही हैं। गर्भमें जिसने मेरी रक्षा की, वह चतुर्भुज

स्वरूपवाला पुरुष कहाँ है ! कहाँ है ऐसा कहते-कहते ईश्वरकी खोजमें निकला यह जीव परीक्षित् ! परीक्षित् अर्थात् श्रीभगवान्के दर्शन करनेके लिये आतुर हुआ जीव। परीक्षित्जीकी आतुरताका एक कारण था। उन्हें मालूम हो गया था कि सात दिनोंमें ( सातवें दिन ) मेरी मृत्यु होनेवाली है। तक्षक नाग मुझे डँसनेवाला है। जीवमात्रको तक्षक नाग डँसनेवाला है। तक्षक कालका स्वरूप है, ऐसा श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें कहा गया है। कालरूपी तक्षक किसीको नहीं छोड़ता। वह सातवें दिन डँसता ही है। सप्ताहके कुल सात दिन हैं। इन सात दिनों ( वारों ) मेंसे किसी एक वार ( दिन ) को काल-सर्प अवश्य डँसेगा। इन सात वारोंमेंसे कोई एक वार हमारे लिये भी निश्चित तो है ही तो फिर परीक्षित्जीकी तरह कालको मत भूलो। कोई भी जीव क्यों न हो, उसे कालका भय तो लगता ही है। मृत्युका भय केवल मनुष्यको है, ऐसा नहीं है। ब्रह्माजीको भी कालका भय लगता है। कालभय कैसे छूटे ?

श्रीभागवत-शास्त्र मनुष्यको निर्भय बनाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि ध्रुवजी मृत्युके सिरपर पाँव रखकर स्वर्गमें चले गये थे। राजा परीक्षित् कथाकी समाप्तिमें बोले कि 'मुझे अब कालका भय नहीं रहा ! श्रीमद्भागवत सुनकर परमात्माके साथ प्रेम हो जानेपर मनुष्यको कालका भय नहीं लगता है। जो श्रीमद्भागवतका आश्रय लेते हैं, वे निर्भय बनते हैं।

लोग मृत्युको अमङ्गल मानते हैं,परंतु मृत्यु अमङ्गल नहीं है। मृत्यु ( काल ) परमात्माकी सेविका है। श्रीठाकुरजीको जब ऐसा लगता है कि मेरा बालक अब योग्य बना है तो वे मृत्युको आज्ञा देते हैं कि उस जीवको पकड़कर ले आओ। जिसे पाप करनेका विचार भी नहीं आता है, उसकी मृत्यु मङ्गलमय होती है। जीवनमें मनुष्य मृत्युका सच्चा भय नहीं रखता है, इसीसे उसका जीवन भी बिगड़ता है और मरण भी ! अन्तकालमें मनुष्यको जो घबराहट होती है वह कालके डरसे नहीं, किंतु अपने किये हुए पापोंकी यादसे होती है। पाप करते समय तो मनुष्य डरता नहीं है, डरता है तब जब कि पापोंकी सजा भुगतनेका समय आता है। व्यवहारमें लोग एक-दूसरेका भय रखते हैं। मुनीम सेठका भय रखता है, कारकुन अधिकारीका, आदि। पर मनुष्य किसी भी दिन ईश्वरका भय नहीं रखता, इसीलिये वह दुःखी होता है।

भागवत मनुष्यको निर्भय बनाता है। श्रीभागवतका आश्रय लेनेसे निर्भयता प्राप्त होती है। मैं अपने परमात्मा श्रीकृष्णका अंश हूँ, मैं भगवान्का हूँ। जब आप परमात्माको हमेशा साथ ही रखकर फिरेंगे तो आप निर्भय बन जायँगे। पर भयके बिना प्रभुमें प्रीति होती ही नहीं। अतः कालका भय रखो। कालके—मृत्युके भयसे प्रभुमें प्रीति होती है। अतः कालकी, पापकी, धर्मकी भीति रखो। मनुष्य यदि सदा कालका भय रखे तो उससे पाप नहीं होगा। निर्भय होना हो तो पाप छोड़ दो। श्रीभागवत-शास्त्र हमें निर्भय बनाता है। मनुष्यको और किसीका भय चाहे न लगता हो, फिर भी कालका भय तो इसे लगा ही रहता है। कामका नाश करके जो भक्ति और प्रेममय जीवन जीता है, वह कालपर भी विजय पाता है। कालको जो मारता है, वह कालकी मार नहीं खाता। कामकी, कालकी मारसे छूटना हो तो परमात्माके साथ अतिशय प्रेम करना होगा। ईश्वरसे प्रेम किये बिना ये काम, क्रोध आदि विकार नहीं जाते। परमात्माके साथ प्रेम करेंगे तो कालका भय लगेगा ही नहीं। ध्रुवजी मृत्युके सिरपर पाँव रखकर वैकुण्ठ धाममें चले गये। काल ही तक्षक नागका स्वरूप है। काल-तक्षक किसीको नहीं छोड़ता। किसीपर भी इस कालको दया नहीं आती। जब जन्म होता है उसी समय ही मृत्युकाल और मृत्युकारण निश्चित हो जाते हैं। अतः इसी जन्ममें ही इस कालपर विजय प्राप्त करो।

पाप करनेमें मनुष्य जितना परायण, तत्पर रहता है, उतना पुण्य करनेमें नहीं। पाप प्रकट हो गया तो जगत्में अप्रतिष्ठा होगी, ऐसा सोचकर पापको वह एकाग्रचित्त—सावधान होकर होशियारीसे करता है। इसी कारण अन्तकालमें उसे पापोंकी याद आती है। इसीसे अन्तकालमें जी घबराता है। अपने किये हुए पाप उसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। वह समझता है कि मैंने मरनेकी तो कोई तैयारी की नहीं। मेरा अब क्या होगा ? मनुष्य और तो सभी कामोंके लिये तैयारी करता है, परंतु मरनेकी तैयारी नहीं करता। जिस प्रकार शादीकी तैयारी करते हो, उसी प्रकार ( खुशीसे ) धीरे-धीरे मरनेकी भी तैयारी करो। कबीर

कहते हैं—'जा मरनेसे जग डरे, मोहि परम आनंद ।' मौतके लिये सदा सावधान रहो । मृत्यु परमात्माको बीते हुए जीवनका हिसाब देनेका पवित्र दिन है । श्रीभगवान् पूछेंगे—मैंने तुम्हें आँखें दी थीं, तुमने उनसे क्या किया ? कान दिये थे, तुमने उनका क्या उपयोग किया ? तुम्हें तन और मन दिये थे तो उनका तुमने क्या किया ? इस हिसाबमें जो गड़बड़ होगी तो घबराहट होगी ही । साधारण इन्कमटैक्स आफिसरको हिसाब देना होता है तो भी मनुष्यको घबराहट होती है और वह ठाकुरजीसे प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! मैंने तो अलग-अलग बही बना रखी है, परंतु तुम मेरा ध्यान रखना । एक वर्षके हिसाब देनेमें इतनी घबराहट होती है तो फिर सारे जीवनका हिसाब देते समय क्या दशा होगी ! प्रभुने हमें जो दिया है उसका हिसाब देना ही पड़ेगा । उनकी कचहरीमें खड़ा होकर बयान सफाई देनी ही होगी । कबीरदास कहते हैं—'समझि परी ये यारो जाके कचहरियामें' कि हमने ऐसा किया तो ऐसा फल मिलेगा ही ।

मृत्युको उज्ज्वल करना हो तो प्रतिक्षणको उजागर करो । आँखोंका सदुपयोग करो, धनका सदुपयोग करो, वाणीका सदुपयोग करो, इससे मृत्यु उज्ज्वल होगी । प्रतिक्षण जो ईश्वरका स्मरण करता है, उसीकी मृत्यु सुधरती है । श्रीभागवत मृत्यु सुधारता है । प्रतिदिन श्मशानमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, परंतु प्रतिदिन उसे याद करनेकी आवश्यकता है । श्रीशंकर श्मशानमें विराजते हैं । वे ज्ञानके देवता होनेसे श्मशानमें विराजते हैं । श्मशानमें समभाव जागते हैं, अतः ज्ञान प्रकट होता है । इसीलिये श्मशान ज्ञानभूमि है । जहाँ समभाव जागे उसीका नाम श्मशान । समभावका अर्थ है असम भावका अभाव । समभाव ही ईश्वरभाव है । मनुष्य सबमें समभाव रखकर व्यवहार करे तो उसका मरण सुधरता है । सबमें ईश्वरभाव ( समभाव ) जागे तो जीव दीन बने, दैन्यभाव आये । परमात्माको प्रसन्न करनेका साधन भी दैन्य ( भाव ) ही है । मनुष्यको अमर होना है । श्रीमद्भागवतकी कथा अमर है । अमरकी कथाका जो आश्रय लेता है, वह अमर हो जाता है । राजा परीक्षित् और शुकदेवजी अमर हैं । श्रीभागवतकी कथा आपको अमर बनाती है और भक्तिरसका दान करती है । भक्तिसे ही मीराबाई द्वारकाधीशमें और गौराङ्ग प्रभु जगदीशमें सदेह समा गये; अमर हो गये । उनकी कथा भी अमर हो गयी । श्रीभागवतकी कथा सुननेसे अनायास ही समाधि लग जाती है । योग और तपके बिना ही श्रीभगवान्से मिलनेका कोई साधन है तो वह भागवत शास्त्र ही है ।

भागवतके भगवान् इतने सरल हैं कि वे सबके साथ बात करनेको तैयार हैं, जब कि अन्यत्र वे किसी अधिकारीके साथ ही बोलते हैं । भागवतशास्त्र मनुष्यको निःसंशय बनाता है । इसकी कथामें सब आ जाता है—बुद्धिका परिपाक, ज्ञानका परिपाक, जीवनका परिपाक आदि । यह सब हो जानेपर भगवान् व्यासजीने इस ग्रन्थकी रचना की थी । भगवान्के नामका जप करते हुए प्रेमसे इस कथाका श्रवण करो । तुम निःसंशय हो जाओगे । भागवत नारायणस्वरूप है, उन्हींके समान परिपूर्ण है । इसके श्रवणसे आस्तिकको मार्गदर्शन मिलेगा और नास्तिक आस्तिक बनेगा । शुकदेवजी-जैसे आत्माराम मुनिने सर्वस्व छोड़ दिया, परंतु वे भी इस कथाको नहीं छोड़ सके । आत्मारामकोटिके महात्मा भी इस श्रीकृष्ण-कथामें मस्त बने हैं, पागल बने हैं । सिद्ध, आस्तिक, नास्तिक, पामर प्रत्येकको यह कथा अवदात जीवनका दान करती है, पवित्र जीवन देती है । व्यवहारका ज्ञान भी भागवतमें भरा पड़ा है । भागवतमें ज्ञानयोग, कर्मयोग, समाजधर्म, स्त्रीधर्म, आपद्धर्म, राजनीति आदिका ज्ञान भरा है । यह एक ऐसा शास्त्र है कि जिसके श्रवण और मनन करनेपर कुछ जानने-जैसा शेष रहता ही नहीं है—'ज्ञातव्यं नावशिष्यते ।' साधकको साधनमार्गमें कैसे-कैसे संशय आते हैं, इन सबका विचार करके व्यास भगवान्ने यह कथा रची है । भागवत-शास्त्र यह परिपूर्ण नारायणका स्वरूप है । यह अतिशय दिव्य है । इसकी महिमा अद्वितीय है । इसका पठन-श्रवण मङ्गलकारी है, कल्याणप्रद है ।

# भक्तके लक्षण

( नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )

भगवान्‌के भक्तोंका बड़ा महत्त्व है। वे जगत्‌के लिये आदर्श होते हैं; क्योंकि भगवद्भक्तिके प्रतापसे उनमें दुर्लभ दैवी गुण अनिवार्यरूपसे प्रकट हो जाते हैं, जो उनके स्वाभाविक लक्षण होते हैं। भक्तका स्वरूप जाननेके लिये उन लक्षणोंका जानना आवश्यक है। उनमेंसे कुछ ये हैं—

१—भक्त अज्ञानी नहीं होता, वह भगवान्‌के प्रभाव, गुण और रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला होता है। प्रेमके लिये ज्ञानकी बड़ी आवश्यकता है। किसीको किसी अंशमें भी जाने बिना उससे प्रेम नहीं हो सकता और प्रेम होनेपर ही उसका गुह्यतम यथार्थ रहस्य जाना जाता है। भक्त भगवान्‌के गुह्यतम रहस्यको जानता है, इसीलिये भगवान्‌के प्रति उसका प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। भगवान् रससार हैं। उपनिषदें भगवान्‌को **'रसो वै सः'** कहती हैं। इस प्रेममें भी द्वैत नहीं भासता। प्रेमकी प्रबलतासे ही राधाजी श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधाजी। कबीर साहब कहते हैं—

**जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नायँ।**
**प्रेम-गली अति साँकरी, यामें दो न समायँ॥**

वस्तुतः ज्ञानी और भक्तकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं होता। भेद इतना ही है, ज्ञानी **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** कहता है और भक्त **'वासुदेवः सर्वमिति'**। अथवा गोसाईंजीकी भाषामें वह कहता है—

**सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥**

२—भगवान्‌का भक्त निर्भय होता है। वह जानता है कि समस्त विश्वके स्वामी, यमराजका भी शासन करनेवाले भगवान् श्यामसुन्दर हर घड़ी मेरे साथ हैं, मेरे रक्षक हैं। फिर उसे डर किस बातका हो! भगवान्‌की शरण जिसने ले ली, वही निर्भय हो गया। लङ्कामें रावणके द्वारा अपमानित होकर जब विभीषण नाना प्रकारके मनोरथ करते हुए भगवान्‌की शरणमें आये, तब उन्हें द्वारपर खड़े रखकर सुग्रीव इस बातकी सूचना देने भगवान् श्रीरामके पास गये। श्रीरामने सुग्रीवजीसे पूछा, क्या करना चाहिये? उन्होंने उत्तर दिया—

**जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥**
**भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥**

समीप ही बैठे हुए भक्तराज हनुमान्‌ने मन-ही-मन सोचा, सुग्रीव क्या कह गये। अरे, जिसका नाम भूलसे निकल जानेपर मनुष्य संसारके बन्धनसे छूट जाता है, उस मेरे रामके चरणोंमें आनेवालेके लिये बन्धनकी बात कैसी! परंतु स्वामी और सेनापतिके बीचमें बोलना अनुचित समझकर हनुमान् चुप रहे।

शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीरामने सुग्रीवकी प्रशंसा करते हुए अपना व्रत बतलाया—

**सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥**

हनुमान्‌का मन खिल उठा। वाल्मीकि-रामायणमें भी भगवान् श्रीरामने ऐसी ही बात कही है—

**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।**
**अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥**

'जो एक बार भी मेरी शरण होकर यह कह देता है कि मैं तेरा हूँ, मैं उसको सम्पूर्ण भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' भला, ऐसी हालतमें भगवान्‌का सच्चा भक्त निर्भय क्यों न होगा!

३—भक्तका किसी विषयमें ममत्व नहीं होता। उसका सारा ममत्व एकमात्र अपने प्राणाराध्य भगवान्‌में हो जाता है। फिर जगत्‌के पदार्थोंमें कहीं उसका

ममत्व यदि रहता है तो उनको भगवान्‌के पूजनकी सामग्री या भगवान्‌की वस्तु समझकर ही रहता है, अपने या अपने भोगके सम्बन्धसे नहीं। रामचरितमानसमें भगवान्‌ने कहा है—

**जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥**
**सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँ बरि डोरी॥**
**अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥**

संसारमें मनुष्य चारों ओर ममताके बन्धनसे जकड़ा हुआ है। उसका एक-एक रोम ममत्वके धागेसे बँधा है। भगवान् कहते हैं—'मनुष्य माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, मकान, सुहृद् और परिवार आदि सबमेंसे ममताके सूत्रोंको अलग करके उनकी एक ही मजबूत डोरी बट ले और उस डोरीके द्वारा अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दे, तो वह सज्जन मेरे मन-मन्दिरमें उसी प्रकार निवास करता है जिस प्रकार लोभीके मनमें धन।' यह ममताका बन्धन इसीलिये कच्चे धागेका बतलाया गया है कि इसके टूटते देर नहीं लगती। जहाँ कहीं स्वार्थमें बाधा आयी कि ममताका धागा टूटा। विषयजनित सारा प्रेम अपने लिये होता है न कि प्रेमास्पदके लिये। इसीलिये यह टूटता भी बहुत शीघ्र है। परंतु जैसे धागोंकी बड़ी मजबूत रस्सी बट लेनेपर वह नहीं टूटती इसी प्रकार जगत्‌की सारी ममता सब जगहसे बटोरकर एक भगवान्‌के चरणोंमें लगा दी जाय तो फिर उसके नष्ट होनेकी कोई सम्भावना नहीं। इसीलिये यह कहा गया है कि भगवान्‌के प्रति होनेवाला सच्चा प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है, कभी घटता नहीं।

संसारमें दुःखोंका एक प्रधान कारण ममता है। न मालूम कितने लोग प्रतिदिन मरते हैं और कितने लोगोंके धनका नित्य नाश होता है, पर हम किसीके लिये नहीं रोते; किंतु यदि हमारे घरका कोई आदमी मर जाय या अपना कुछ धन नष्ट हो जाय तो शोक होता है। इसका कारण ममता ही है। मान लीजिये हमारा एक मकान है, यदि कोई आदमी उसकी एक ईंट निकाल देता है तो हमें बहुत बुरा मालूम होता है। हमने उस मकानको बेच दिया और उसकी कीमतका चेक ले लिया। अब उस मकानकी एक-एक ईंटसे सारी ममता निकलकर हमारी जेबमें रक्खे हुए कागजके टुकड़े चेकमें आ गयी। अब चाहे मकानमें आग लग जाय, हमें कोई चिन्ता नहीं। चिन्ता है उस कागजके चेककी। बैंकमें गये, चेकके रुपये हमारे खातेमें जमा हो गये। अब भले ही बैंकका लिपिक उस कागजके टुकड़ेको फाड़ डाले, हमें कोई चिन्ता नहीं। अब उस बैंककी चिन्ता है कि वह कहीं फेल न हो जाय; क्योंकि उसमें हमारे रुपये जमा हैं। इस प्रकार जहाँ ममता है, वहीं शोक है, यदि हमारी सारी ममता भगवान्‌में अर्पित हो जाय, फिर शोकका जरा-सा भी कारण न रहे। भक्त तो सर्वस्व अपने प्रभुके अर्पण कर उनको अपना बना लेता है और स्वयं उनका बन जाता है। उसमें कहीं दूसरेके लिये ममता रहती ही नहीं, इसीलिये वह शोकरहित हुआ सर्वदा आनन्दमें मग्न रहता है।

४—भक्तमें अभिमान नहीं होता, वह तो सारे जगत्‌में अपने स्वामीको व्याप्त देखता है और अपनेको उनका सेवक समझता है। सेवकके लिये अभिमानको स्थान कहाँ ! उसके द्वारा जो कुछ होता है सो सब उसके भगवान्‌की शक्ति और प्रेरणासे होता है। ऐसा विनम्र भक्त सदा सावधानीसे इस बातको देखता रहता है कि कहीं मेरे किसी कार्यद्वारा या मेरी किसी चेष्टाद्वारा विश्वव्याप्त मेरे स्वामीका तिरस्कार न हो जाय। मेरे द्वारा सदा-सर्वदा उनकी आज्ञाका पालन होता रहे, मैं सदा उनकी रुचिके अनुकूल चलता रहूँ। वह अपनेको उस सूत्रधारके हाथकी कठपुतली समझता है, सूत्रधार जैसे

नचाता है, पुतली वैसे ही नाचती है, वह इसमें अभिमान क्या करे? अथवा यों समझिये कि यह सारा संसार स्वामीका नाट्यमंच है, इसमें हम सभी लोग नट हैं, जिसको स्वामीने जो स्वाँग दिया है, उसीके अनुसार साङ्गोपाङ्ग अभिनय करना हमारा कर्तव्य है। जो आदमी मालिककी रुचिके अनुसार उसका काम नहीं करता, वह नमकहराम है और जो मालिककी सम्पत्तिको अपनी मान लेता है वह बेईमान है। नट पार्ट करता है, स्टेजपर किसीके साथ पुत्रका-सा, किसीके साथ पिताका-सा, किसीके साथ मित्रका-सा यथायोग्य बर्ताव करता है, परंतु वस्तुतः किसी भी वस्तुको—अपनी पोशाक तकको भी वह अपनी नहीं समझता। इसी प्रकार भगवान्‌का भक्त उनकी नाट्यशालारूप इस दुनियामें उनके संकेतानुसार उन्हींके दिये हुए स्वाँगको लेकर आलस्यरहित हो उन्हींकी शक्तिसे कर्म किया करता है। इसमें वह अभिमान किस बातका करे? वह मालिकका विधान किया हुआ—बताया हुआ अभिनय करता है, न कि अपनी ओरसे कुछ। पार्ट करनेमें कभी चूकता नहीं; क्योंकि इसमें मालिकका खेल बिगड़ता है और अपना कुछ मानता नहीं; क्योंकि वह जानता है कि सब मालिकका है, मेरा कुछ भी नहीं, वह मालिकको ही सबका नियन्त्रण करनेवाला और सर्वत्र व्याप्त देखता है और अपनेको उनका अनन्य सेवक समझता है।

> सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
> मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

५—भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता या किसीपर क्रोध नहीं करता। किससे करे? किसपर करे? सारा जगत् तो उसे स्वामीका स्वरूप दीखता है। शिवजी महाराज कहते हैं—

> उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
> निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध॥

भक्त विनय, नम्रता और प्रेमकी मूर्ति होता है।

६—भक्त किसी वस्तुकी कामना नहीं करता। उसे वह वस्तु प्राप्त है, जिसके सामने सब कुछ तुच्छ है, तब वह किसकी कामना करे और क्यों करे? वस्तुतः प्रेममें कोई कामना रहती ही नहीं। प्रेममें देना है, वहाँ लेनेका तो नाम ही नहीं है। यही काम और प्रेमका बड़ा भारी भेद है। काममें प्रेमास्पदके द्वारा अपने सुखकी चाह है और प्रेममें अपने द्वारा प्रेमास्पदको सुखी बनाने की उत्कट इच्छा है। उसके लिये वही सबसे बड़ा सुख है, जिससे उसके प्रेमास्पदको सुख मिले, चाहे वह अपने लिये कितने ही भयानक कष्टका कारण क्यों न हो। प्रेमास्पदके सुखको देखकर प्रेमीकी भयानक पीड़ा तुरंत दिव्य सुखके रूपमें परिणत हो जाती है। अतएव भगवान्‌का प्रेमी कभी कामी नहीं होता, वह तो चातककी भाँति मेघरूप भगवान्‌की ओर सदा एकटक दृष्टिसे निहारा करता है। बादल यदि न बरसे या जलके बदले ओले बरसावे, तो भी वह प्रेमके नेमका पक्का पपीहा उधरसे मुँह नहीं मोड़ता।

> रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गये अंग।
> 'तुलसी' चातक प्रेमको, नित नूतन रुचि रंग॥
> बरषि परुष पाहन पयद, पंख करे टुक टूक।
> 'तुलसी' परी न चाहिये चतुर चातकहि चूक॥

यही दशा भक्तकी है।

फिर वह चाहे भी क्या? जगत्‌का सारा ऐश्वर्य जिसके ऐश्वर्यका एक कण भी नहीं है, वह सर्वलोकमहेश्वर श्यामसुन्दर उसका प्रियतम स्वामी है, उसकी सेवाको छोड़कर वह क्या चाहे? इसीलिये ललितकिशोरीजीने गाया है—

> अष्टसिद्धि नवनिद्धि हमारी मुट्ठीमें हरदम रहतीं।
> नहीं जवाहिर सोना चाँदी त्रिभुवनकी संपति चहतीं॥
> भावैं ना दुनियाकी बातें दिलवरकी चरचा सहती।
> 'ललितकिसोरी' पार लगावैं मायाकी सरिता बहती॥

भक्त तो केवल अपने प्रियतम स्वामीकी सेवामें ही रहना चाहता है, वह सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं ग्रहण करता। करे भी कैसे ? भगवान्‌के उस अनन्य सेवकके लिये मायाका बन्धन तो है नहीं जिससे वह मुक्त होना चाहे। अब तो केवल भगवत्-सेवाका बन्धन है, भक्त इस प्यारे बन्धनसे मुक्ति क्यों चाहेगा ? श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

**सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।**
**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥**

मेरी सेवाको छोड़कर मेरे भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते हैं।

भक्त जानता है, मेरे प्रभु समस्त ब्रह्माण्डोंके एकमात्र स्वामी हैं, मुक्ति उनके चरणोंकी दासी है। वह कहता है—

**अब तो बंध-मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।**
**मुखड़ा ही नित नव बंधन है मुक्ति चरणसे झरती है॥**

मुक्तिदायिनी गङ्गाजी श्रीभगवान्‌के चरणोंका ही तो जल हैं।

एक समय ब्रह्माजी भगवान्‌के द्वारपर पहुँचे। भगवान्‌ने द्वारपालके द्वारा उनसे पुछवाया कि 'आप कौन-से ब्रह्मा हैं ?' ब्रह्माको इस बातपर बड़ा आश्चर्य हुआ वे सोचने लगे—'कहीं ब्रह्मा भी दस-बीस थोड़े ही हैं।' उन्होंने कहा—'जाओ, कह दो, चतुर्मुख ब्रह्मा आये हैं।' भगवान्‌ने उनको भीतर बुलाया। ब्रह्माजीका कौतूहल शान्त नहीं हुआ। उन्होंने पूछा—भगवन् ! आपने यह कैसे पूछा कि कौन-से ब्रह्मा हैं ! क्या मेरे अतिरिक्त और भी कोई ब्रह्मा है ?' भगवान् हँसे, उन्होंने विभिन्न ब्रह्माण्डोंके ब्रह्माओंका आवाहन किया। तत्काल वहाँ चारसे लेकर हजार मुँहतकके अनेकों ब्रह्मा आ पहुँचे। भगवान्‌ने कहा—'देखो, ये सभी ब्रह्मा हैं। अपने-अपने ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं।' तब ब्रह्माजीका संदेह दूर हुआ। ऐसे ब्रह्माओंके एकमात्र स्वामी जिसके प्राणप्रिय हों, वह भक्त किस वस्तुकी कामना करे।

भक्त तो निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर अति प्रेमके साथ उनका चिन्तन ही करता रहता है। तुलसीदासजीने कहा है—

**कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।**
**तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥**

भक्त निरन्तर अपने भगवान्‌के लिये कामी और लोभीकी इस दशाको प्राप्त रहता है। वह कैसे उनको भुलावे ? और कैसे दूसरे विषयके लिये कामना या लोभ करे ?

अतएव भक्त सदा-सर्वदा भगवान्‌के चिन्तनमें ही चित्तको लगाये रखता है। भगवान्‌ने भी गीतामें स्थान-स्थानपर नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेकी आज्ञा दी है। आठवें अध्यायमें कहा है—

**अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥५॥**

'जो मनुष्य मृत्युके समय मुझको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।' इसपर लोग सोच सकते हैं कि फिर जीवनभर भगवान्‌का स्मरण करनेकी क्या आवश्यकता है। मरनेके समय भगवान्‌को याद कर लेंगे। याद करके मरनेपर भगवत्प्राप्तिका वचन भगवान्‌ने दे ही दिया है। इसी भ्रान्त धारणाको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने फिर कहा है—

**यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
**तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥६॥**

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।'

# उद्धव-संदेश

[ लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्० ]
( अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल )

( ६ )

नन्दराजकी आर्ति चरम सीमाको लाँघ चुकी थी। अब उनके पास चुप बैठना कठिन था। वहाँ रहनेवालेको या तो उनके साथ रोना पड़ता या कुछ-न-कुछ बोलना। उद्धवके पास न तो उनका साथ देकर विलाप करनेकी योग्यता है, न उन्हें प्रबोध देने योग्य भाषाका ही ज्ञान है। उद्धव अपने जीवनमें कभी इस प्रकार असहाय न हुए थे। वे विवश हो बोले—'नन्दराज! आप और माँ यशोदा महान् भाग्यवान् हैं। आपके समान श्लाघनीय जीवन जगत्‌में न हुआ है न होगा—**'युवां श्लाघ्यतमौ लोके।'** श्रीकृष्णचन्द्रके धराधामपर अवतीर्ण होनेके कारण आज जगत् महान् भक्तोंसे परिपूर्ण हो रहा है। महाप्रेमी भक्त स्थान-स्थानपर जन्म ग्रहण कर चुके हैं। सृष्टिके आदिसे आजतक जितने भक्तोंने जन्म ग्रहणकर इस पृथ्वीको अलङ्कृत किया है, आप उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। आपकी तरहका समर्पित-चित्त, वियोग-व्याकुल, प्रीतिमान् भक्त इस पृथ्वीपर कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी गोष्ठीमें कोई एक व्यक्ति महत्ता प्राप्त कर लेता है तो गोष्ठीके सारे सदस्य उसके लिये गर्वका अनुभव करते हैं, जगत्‌की भक्त-गोष्ठीके हम सब भी आपके नामपर गर्व अनुभव करते हैं। आपलोगोंकी भाग्यमहिमाका वर्णन करनेमात्रसे भी हम अपनेको धन्य अनुभव करते हैं। आप-जैसोंको अपने वक्षपर धारण करके धरणी भी धन्य हुई है।'

सुन्दर और परम सत्य होते हुए भी उद्धवकी बातें नन्दराजके हृदयमें तीखे तीर-सी लगीं। अधिक वेदनासे कातर हो वे कहने लगे—'वत्स उद्धव! सुना था कि तुम बहुत बुद्धिमान् हो। तुम्हें देखकर भी तो ऐसा ही लगा था, किंतु तुम्हारी बात सुनकर तो बड़ी निराशा हुई है। तुम निरे बालक हो, नितान्त अज्ञ हो। ऐसा न होता तो तुम मुझ महान् हतभाग्यको मुँहपर ही भाग्यवान् क्यों कहते! उद्धव! जो व्यक्ति पुत्र-विरहसे मुमूर्षु हो रहा है, उसे तुम भाग्यवान् कहते हो! फिर पुत्र भी ऐसा-वैसा नहीं। पुत्र तो सभी मनुष्योंके होते हैं, किंतु श्रीकृष्ण-सदृश पुत्र किसीको हुआ है या होगा! यदि तुम्हारे हृदयमें स्वल्पमात्रमें भी अनुभवशक्ति होती तो तुम ऐसे व्यक्तिको भाग्यशाली नहीं कहते जो श्रीकृष्ण-जैसे पुत्ररत्नके वियोगमें मरणाधिक वेदनासे दिन-रात्रि छटपटा रहा हो। जिसके मस्तिष्कमें अत्यल्प मात्रामें भी बुद्धि होगी, वह भी भलीभाँति जानता होगा कि पृथ्वीपर हमारे-जैसे हतभाग्य और नहीं जन्मे हैं। बड़े-से-बड़े शत्रुको भी हमारे-जैसा दुर्भाग्य प्राप्त न हो। उद्धव! हमारे ऊपर तो विधाता ही विमुख है, जो ऐसी बात भी सुननी पड़ती है। हमें भाग्यवान् कहना तो एक प्रकारसे हमारा परिहास करना हुआ।'

नन्दराजकी बातें सुनकर उद्धव स्तब्ध रह गये। समझ गये कि मेरा बोलना उचित न हुआ। उद्धव गम्भीरतासे विचार करने लगे तो लगा कि उन्होंने जो कुछ कहा है, वह तत्त्वतः तो यथार्थ ही है। जिसके हृदयमें आकुलतासे भरपूर इस प्रकार कृष्णानुराग विद्यमान है, वही तो परम भाग्यवान् है। भक्ति-शास्त्र इसीका समर्थन करते हैं। जो बात शास्त्रीय सिद्धान्तसे अनुमोदित है, वही कहना नीतिज्ञ और शास्त्रज्ञ व्यक्तिका सर्वदा कर्तव्य है। तब तो न्यायतः और धर्मतः परम सत्यभाषण करके उद्धवने अपना कर्तव्य ही किया है। किंतु

आश्चर्य तो इस बातका है कि ऐसी बात भी अन्याय और अकर्तव्य-सी लगकर नन्दराजकी वेदनावृद्धिका कारण बनी ।

उद्धव दिग्भ्रान्तकी तरह विचार-समुद्रमें गोते खाने लगे । वस्तुतः नन्दराजकी श्रीकृष्ण-प्रीतिका गौरव अंश ग्रहण करके उद्धव मुग्ध हो गये हैं, किंतु उसका कण-मात्र ग्रहण करके अभिभूत न हो सके । उद्धव नन्दराजके दुःखके स्वल्पांशका भी अनुभव नहीं कर पाये, केवल उसके महिमांशका अनुभव करके चमत्कृत हुए हैं । उद्धवने यह भलीभाँति हृदयङ्गम कर लिया कि इतना अनुराग जिसके हृदयमें भरा है, वह कितना महान् है और इसीलिये उनको महान् भाग्यवान् कह भी सके । नन्दराजके श्रीकृष्णवात्सल्यकी विशालतासे उद्धव मुग्ध हुए हैं, किंतु उसकी गम्भीरतामें अवगाहन करके उसमें अपनेको विलीन नहीं कर सके । उद्धव स्वयंको स्वयं ही नहीं समझ पा रहे हैं, कारण, उद्धवके चित्तमें जो श्रीकृष्णभक्ति है, उसमें श्रीकृष्णके ऐश्वर्यांशकी स्फूर्ति ही प्रधानरूपसे विराजमान है । श्रीकृष्ण ही परदेवता, परब्रह्म हैं, यह बात उद्धवके अन्तःकरणके अन्तरतम प्रदेशमें भी भिदी हुई है । जीवके अनुरागके परम विषय पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । जिस वस्तुमें अनुराग स्थापन करना उचित है, नन्दराजका अनुराग उसी वस्तुमें स्थापित है । अतएव नन्दराजको महामहिमान्वित विशिष्ट व्यक्ति माननेमें उद्धवको कथमपि हिचकिचाहट नहीं है । किंतु नन्दराजकी प्रीति किसी तर्कसङ्गत युक्तिके औचित्यसे उत्पन्न नहीं है, यह बात उद्धवकी समझसे बाहर है । नन्दराज श्रीकृष्णसे इसलिये प्रेम नहीं करते कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अतः उनसे प्रेम करना चाहिये । नन्दराजका प्रेम स्वभावसिद्ध है, स्वतःसिद्ध है । उद्धवकी श्रीकृष्णके प्रति इसलिये प्रीति है कि उद्धवकी बुद्धिमें श्रीकृष्ण भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । नन्दराजके लिये श्रीकृष्ण उनके पुत्रके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हैं ।

आज मानो मथुरापुरी ब्रजदर्शनको आयी है । केवल दर्शन ही नहीं व्रजराजको सान्त्वना भी देनी है । उद्धव व्रजराजके श्रीकृष्णप्रेमकी गरिमामात्र बुद्धि-द्वारा ग्रहण कर पा रहे हैं । उसकी मधुरिमा हृदयद्वारा आस्वादन नहीं कर पा रहे हैं । यही कारण है कि उनका निर्दोष वाक्य भी दोषावह हो गया है ।

# करुणानिधान प्रभुका स्वभाव

( रचयिता—डॉ० श्रीनारायणदत्तजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्०, डी० )

( भक्तकी ) थोरिह पीर वहुत दुख पावत ।
दीनबंधु करुनानिधान वे भक्त की टेर भाजतेइ आवत ।
कान परत कातर सुर जन कौ नागेंइ पायन धावत ।
जब जब भीर परति निज जन पै छिन महँ आय छुडावत ।
गज, प्रह्लाद, गाय, गोपी, ध्रुव कछु तिहि सीख बतावत ।
वसन रूपधरि द्रुपद-सुता की केहि विधि लाज बचावत ।
करुनामय सुभाउ मेरे प्रभु कौ श्रुति पुरान जस गावत ।
'दत्त' सुकवि भव व्याल ग्रसित कौं काहे नाहिं कुरावत ।

# प्रभो ! आप मुझे सद्बुद्धि दें !

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० )

स्वर्गीय जार्ज पञ्चम बाकिंगम महलके अपने पुस्तकालयकी दीवारोंपर ये मार्मिक शब्द लिखवा रखे थे—

'हे प्रभो ! मुझे ऐसी सद्बुद्धि दीजिये कि मैं संसारमें असम्भव वस्तुओंको प्राप्त करनेकी मिथ्या कामना न करूँ और बिगड़ी बातोंपर विक्षोभमें आँसू न बहाऊँ।'

सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपनहॉवेरने इसी बहुमूल्य विचारको इन शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है—'मानव-जीवनमें समर्पणके भावका प्रमुख महत्त्व है।'

उन्नीस सौ वर्ष पूर्व रोमनिवासियोंको सुखी रहनेका रहस्य स्पष्ट करते हुए विचारक एकपिकटेड्सने बड़े पतेकी बात कही थी, जो इन्हीं विचारोंसे मिलती है। उन्होंने कहा था—'हम अपनी पूरी शक्तिसे कठिनाइयों, मुसीबतों, प्रतिकूलताओं और परेशानियोंसे बचनेकी कोशिश तो करें, किंतु अपनी सामर्थ्यके बाहरकी बातोंके लिये चिन्तित होना छोड़ दें।'

मानवका भविष्य एक अनिश्चित रूप है। हम अपनी विवेक-बुद्धि लगाकर आगे आनेवाले समयके लिये भाँति-भाँतिके अनुमान लगा सकते हैं, उन्नति करने, व्यापारमें लाभ कमाने, पारिवारिक सुख-शान्तिके लिये अनेक प्रयत्न कर सकते हैं, पूरी सावधानीसे जीवनकी रक्षाके उपाय सोच सकते हैं, दूरदर्शी व्यक्तियोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए आगे बढ़ सकते हैं, किंतु फिर भी भविष्यपर हमारा कोई वश नहीं है। जीवन एक यात्रा है, जिसमें एक-एक पग एक-एक दिन बड़े धीरे-धीरे आगे बढ़ना होता है पर यह पता नहीं कि उसमें कहाँ ऊबड़-खाबड़, कंकड़-काँटे, ऊँचा-नीचा, खाई-खन्दक या अचानक रुकावट आ जाय! जीवन-यात्रामें किसी भी प्रकारकी नयी अप्रत्याशित परिस्थिति आ उपस्थित हो सकती है। ऐसी मुसीबतें आ सकती हैं, ऐसी हानि हो सकती है, जिनका हमें कोई अनुमान नहीं होता। जीवनके पथरीले मार्गके हिचकोले और धक्के आ सकते हैं। यदि हम जीवनके इन धक्कोंसे लड़ने लगें, उन हिचकोलोंको सहनेके सिवा उन्हें रोकने लगें, उनका सामना करें तो क्या परिणाम होगा?

हम अपने मस्तिष्कमें अनेक जटिल अन्तर्द्वन्द्वोंकी सृष्टि कर बैठेंगे। हम व्यर्थ ही थकित, तनावग्रस्त और उन्मादी हो जायँगे।

यदि हम एक कदम और आगे बढ़ें तथा दुनियाके कठोर और कटु वास्तविकताके शुष्क संसारको छोड़कर स्वनिर्मित संसारसे पलायन करने लगें तो पागल हो जायँ। कल्पनालोकमें आप जो चाहें, सोच-विचार सकते हैं, मनको भ्रमित कर काल्पनिक-लोकमें विचरण कर सकते हैं, पर संसारका जीवन कटुताओं और कठोरताओंसे भरा हुआ है। वह हमारी कल्पनाके अनुसार नहीं चल सकता। हमारा जीवन एक युद्ध है, विरोधोंके विरुद्ध एक संघर्ष है। यह प्रतिकूलताएँ कहीं बीमारी हैं, तो कहीं गरीबी, अशिक्षा, रूढ़िवादिता, निराशा, घबराहट तथा अवसाद और कहीं हानि, मृत्यु, हिंसा, प्रतिशोध, अत्याचार आदि। आजकी जटिल परिस्थितियों—मँहगाई, रोजगार, बेकारी, आपाधापी, भ्रष्टाचार, राजनीतिके फन्दे, गुंडागर्दीके खतरे, बड़े शहरोंमें बसने या रहनेकी किल्लतें आदिने इस संघर्षको कहीं कड़वा कर दिया है, तो कहीं उदास! इसलिये आजकी विवशताओंमें हमारे लिये जीवनकी समता और सन्तुलन बनाये रखना कठिन हो गया है; पर ये मुसीबतें न भी हों, तब भी जीवन कष्टोंके विरुद्ध एक संघर्ष है और संघर्षसे बचनेके लिये हर सम्भव कोशिश करना हमारा कर्तव्य है।

उस संघर्षमें हम पड़ें तो सही, अपनेसे बन सकनेवाली हर प्रकारकी चेष्टाएँ भी करें, किंतु जहाँ हम घबराएँ या अपने आपको असमर्थ समझें वहाँ क्या करें ?

वहाँ प्रभुको आत्मसमर्पण करें। सब कुछ भगवान्के हाथोंमें अर्पित कर दें। मनुष्य तो कर्त्तव्य कर्मके लिये बाध्य है, फलकी चिन्तामें उलझना उसका काम नहीं। फल भगवान्के हाथमें है। सफलता या असफलता मनुष्यके कार्यकी कसौटी नहीं है। खेलाड़ी जब गेंद खेलना प्रारम्भ करते हैं तो गिरते-पड़ते और चोटें खाते हैं। अन्तमें एक पक्ष हारता है, दूसरा जीतता है। कई बार कमजोर जीत जाता है, कुशल खेलाड़ी पराजित होता है। परीक्षामें कभी-कभी मन्दबुद्धि विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाते हैं, कुशाग्र और तेजस्वी पिछड़ जाता है। इसे आप क्या कहेंगे ?

वास्तवमें सफलताकी सही कसौटी यह है कि हमने अपने कर्तव्यको कितनी सावधानी, सतर्कता, ईमानदारी और पूर्णतासे किया। फल तो ईश्वरके हाथ है। फलसे सफलता नहीं आँकनी चाहिये, प्रत्युत कर्त्तव्यकी पूर्णतासे उसे मानना चाहिये।

'अरे पराजित मनुष्य ! उठ, कर्तव्यके लिये संघर्ष कर। हार मिले या जीत, तू तो बस युद्ध ( संघर्ष ) करता चल। युद्ध ही जीवन है, संघर्ष ही मनुष्यता है।'

वास्तवमें फल हमारे हाथकी बात नहीं है। जो वस्तु असाध्य है, पहुँचसे परे है, उसको पानेकी अभिलाषा करना मूर्खता है, मृगजलके पीने-हेतु दौड़ने-जैसा व्यर्थ प्रयास है, जिसका पर्यवसान घोर निराशाके अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता।

# पुराणोंकी मौलिक प्रामाणिकता

( लेखक—डॉ० श्रीमहाप्रभुलालजी गोस्वामी )

भारतीय मान्यताके अनुसार धर्माधर्मके निर्णय तथा प्रमाणमें प्रयोजक होनेके लिये शुक्ल यजुर्वेदके द्रष्टा प्रमेयनयकी जन्मभूमि मिथिलाके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महर्षि याज्ञवल्क्यकी स्मृति तथा उसकी मिताक्षरा टीकाकी सर्वाधिक मान्यता सभी न्यायालयोंमें अबतक रही है। वह प्रमाणके लिये सर्वप्रथम पुराणोंका ही उल्लेख करती है। पुराणादिकी सहायतासे ही वेदविद्या और धर्मका स्थान बनता है—

**पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।**
**वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥**
( याज्ञ० १ । ३ )

वेदके परम प्रामाण्य होनेपर भी उसके सभी अंश प्राप्त नहीं हैं। वेदोंके अर्थोंके निर्णायक मुनियोंके भी मतमें समानता नहीं है, परस्पर विरोध ही लक्षित हो रहा है। मत्स्यपुराणके १४४ वें अध्यायमें भी द्वापरान्तके बाद वेदोंकी दुर्दशाका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार प्राप्त अंशोंका अर्थ भी सहज ज्ञानगम्य नहीं है। अतः वेदके अर्थोंके निर्णयके लिये पुराण और इतिहास ही साधन हैं। जो वेदांश विदित नहीं हैं, वे भी पुराणके आधारपर ही दृष्ट या अनुगेय हो सकते हैं, अतः पुराण ही वेदमें प्रामाण्यका प्रत्यक्ष सुगम साधन है। इसीलिये महाभारतमें कहा गया है कि इतिहास और पुराणोंके आधारपर वेदका अर्थ स्पष्ट समझना चाहिये—**'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'**—'पुराण' शब्दकी व्युत्पत्तिसे उसका तात्पर्य और स्पष्ट होता है* । **'पुरा अनति—इति पुराणम्'**—इस व्युत्पत्तिके अनुसार वे सर्वाधिक प्राचीन एवं वेदके पूरक हैं। पुराण वेदान्तर्गत ही हैं; क्योंकि जो वेद नहीं होगा, उससे उसका पूरण कैसे

* 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौतुट् च' ( पा० ४ । ३ । २३ ) सूत्रसे 'पुरा' अव्ययके प्रति 'तुट्' आगमके विना ही 'ट्यु' प्रत्यय होकर पुरातनकी जगह पुराण बनता है अथवा "अण् ( १ । १४० )", "अन् ( २ । ४० )" शब्द या "प्राणये" से "पुराण" पद बनता है। अथवा "पूर्वकाल—पुराणनवकेवलाः" ( २ । १ । ४९ ) सूत्रसे निपातनद्वारा—"पुराण" शब्द बनता है। वायु-ब्रह्माण्डादि पुराणोंमें—'यस्मात्पुरा ह्यनतीति पुराणमिति तनो विदुः' कहकर पुराणकी निष्पत्ति की गयी है।

सम्भव है। अपूर्ण सुवर्णके वलय आदिका पूरण कनकसे ही हो सकता है, काँचसे नहीं।

पुराणमें स्वर एवं शब्दक्रमका परिवर्तन होना असम्भाव्य नहीं माना है—यही वेदसे उसकी भिन्नता है। किंतु अपौरुषेय अर्थकी दृष्टिसे दोनों अभिन्न हैं। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्' (६।३।२)। स्कन्दपुराणके प्रभासखण्डमें भी कहा गया है कि पुरातन कालमें देवपितामह ब्रह्माने उग्र तपस्या की। उसके फलस्वरूप षडङ्गपदक्रमके साथ वेदका आविर्भाव हुआ। इसके बाद ब्रह्माके मुखसे नित्यशब्दमय शतकोटि श्लोकनिबद्ध सुविस्तृत पवित्र सर्वशास्त्रमय परमार्थ-तत्त्वके प्रतिपादक ब्रह्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, ब्रह्मवैवर्त, गरुड़ और ब्रह्माण्ड—इन अठारह पुराणोंका आविर्भाव हुआ।

पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः॥
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
(स्क० ७।२।२७-२८)

ऐसे ही श्रीमद्भागवतके वेदोत्पत्ति-प्रकरणमें कहा गया है कि ब्रह्माके पूर्व आदि मुखोंसे यथाक्रमसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्व आविर्भूत हुए एवं इतिहास-पुराणात्मक पञ्चम वेदका सभी मुखोंसे आविर्भाव हुआ—

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥
(श्रीमद्भा० ३।१२।३९)

यही कारण है कि 'पुराणं पञ्चमो वेदः'से एवं साङ्गवेदकी कौथुमीय शाखा और तलवकार शाखाकी छान्दोग्य उपनिषद्में स्पष्ट शब्दोंमें पुराणोंको पञ्चम वेदके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है—'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्'' (छा० ७।१।२)। इससे स्पष्ट है कि चार वेदोंमें पुराणके अन्तर्भावका प्रश्न भी नहीं उठ सकता है। वेदाध्ययनके अनर्ह सामान्य जनोंके अध्ययन योग्य महर्षि वेदव्यासकृत पुराण और इतिहास हैं। व्यासने ही वेद-विभाजन और इतिहास-पुराणकी रचना साधारणजनके कल्याणकी भावनासे की है।

पुराणके पञ्चम वेदके रूपमें मान्यताके लिये वायु एवं विष्णु आदि पुराणोंमें भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वहाँ वेदोंका व्यसन (विस्तार) करनेसे ही पुराणकर्ताको 'व्यास' संज्ञा दी गयी है—'व्यस्यति वेदान्' इति व्यासः।
(विष्णुपुराण ३।४।४)

आख्यान-उपाख्यान तथा पुरावृत्त आदिसे संवलित पञ्चलक्षणात्मक पुराणोंका एवं महाभारत आदि संहिताओंका प्रणयन व्यासने किया। वेदोंका मुख्य लक्ष्य यज्ञसम्पादन है। यजुर्वेदकी प्रधानता यज्ञ-सम्पादनमें ही है। सुविधाके लिये फिर उसके चार भेद किये गये। सूतने कहा है—

इतिहासपुराणानां वक्तारं सम्यगेव हि।
मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः॥
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत्।
चातुर्होत्रमभूत् तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत्॥
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु होत्रमृग्भिरेव च।
उद्गात्रं सामभिश्चैव ब्रह्मत्वं चाप्याथर्वणेन तु॥
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विजसत्तमाः।
पुराणसंहिताश्चक्रे पुराणार्थविशारदः॥
(वायुपु० ६०।१६-१९)

मत्स्यपुराणमें मत्स्यभगवान्ने भी कहा है कि द्विजोत्तमगण! कालधर्मके अनुसार मानव सभी पुराणोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है, अतः प्रत्येक युगमें मैं व्यासरूपमें अवतीर्ण होकर पूर्वसिद्ध शतकोटिसंख्यक पुराणराशिको मनुष्यके संग्रहकी दृष्टिसे संक्षिप्त करता हूँ—

कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥
(मत्स्यपुराण ११।८)

इस कथनके अनन्तर ही कहा है—प्रत्येक द्वापरयुगमें चार लाख श्लोकोंमें संक्षिप्त एक पुराणको अठारह भागोंमें विभक्त कर मर्त्यलोकमें प्रचारित किया। आज भी देवलोकमें पुराण शतकोटिके रूपमें उपलब्ध हैं। उसीका संक्षिप्त-रूप मर्त्यलोकमें अष्टादश पुराण हैं। इस प्रकार यजुर्वेदका अवशिष्ट अंश ही पुराण है—

चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते॥
अद्यापि स्वर्गलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम्।
तदर्थोऽस्य चतुर्लक्षः संक्षेपेण निरूपितः॥
(मत्स्यपु० ५३।९-१०)

*

शिवपुराणकी वायवीयसंहितामें भी इसी विषयको कहा गया है—

संक्षिप्य चतुरो वेदांश्चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः ।
व्यस्ता वेद यतस्तेनो वेदव्यास इति स्मृतः ॥
पुराणमपि संक्षिप्तं चतुर्लक्षप्रमाणतः ।
अद्याप्यमर्त्यलोके तु शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
( २ । १ । १६-१७ )

इस प्रकार वक्ताके आधारपर स्कन्द, अग्नि आदि पुराणोंका नामकरण हुआ है । वे अनादि हैं ।

विष्णुपुराणमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वेद पुराणोंमें प्रतिष्ठित है—'वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ।' वेदके दुरूह अंशकी व्याख्याके कारण पुराणका वैशिष्ट्य सर्वथा मान्य है ।

विष्णुपुराण आदिमें कृष्णद्वैपायनका वैशिष्ट्य वर्णन करते हुए वेद और पुराणका महत्त्वातिशय व्यक्त किया गया है । और महाभारत तथा पुराणोंके रचयिता कृष्णद्वैपायनको साक्षात् नारायणका ही अंश कहा गया है—

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् ।
उत्सन्नान् ततो वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम् ।
को ह्यन्यो भुवि मैत्रेय महाभारतकृद् भवेत् ॥
( विष्णुपु० ३ । ४ । ५ )

इतना ही नहीं, नारदीयपुराणमें पुराणका विचार अतिशय कल्याणकर सिद्ध किया गया है । शिवजीने पार्वतीसे कहा है कि वेदोंमें ग्रहसंचार, तिथिनिर्णय आदि स्पष्ट नहीं हैं, वे स्मृतियोंमें भी नहीं हैं, पर पुराणोंने इसका निर्णय किया है, अतः सुन्दर मुखवाली ! मैं वेदार्थसे पुराणोंके अर्थको अधिक मानता हूँ—'वेदार्थमधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने' ( २ । २० । ५ ); क्योंकि वेदार्थ पुराणमें ही प्रतिष्ठित है—इसमें संदेह नहीं है । पुराणको वेदसे अन्यथा करनेपर व्यक्ति अच्छी तरह इन्द्रियोंका दमन नहीं कर सकता । फलतः सुशान्त व्यक्तिकी भी पक्षियोनि आदिमें जाना सुनिश्चित है । अतः पुराणका प्रामाण्य वेदके समान सुनिश्चित है ।

स्कन्दपुराणके प्रभासखण्डमें वेदके समान ही पुराणार्थको निश्चल मनसे विचार करनेका निर्देश उपलब्ध होता है । वेद अतिशय विस्तृत है, अतः दो-चार शाखाओंके अध्ययनसे वेदार्थ-निर्णय सम्भव नहीं है । वेद भाष्योंसे भी वेदार्थ-ग्रहणकी सम्भावना नहीं है । पुराण ही वेदोंके अकृत्रिम भाष्य हैं । अतः इनसे ही वेदार्थकी अवगति करनी चाहिये ।

पञ्चलक्षण पुराणोंकी स्वतन्त्र विशेषता है । मत्स्यपुराणमें कहा है कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश्यानुचरित-रूप पञ्चलक्षणात्मक आख्यान पुराण हैं । 'भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ।' सूक्ष्म भूत या गुणत्रयकी साम्यावस्था प्रधान है, इस प्रधानमें क्षोभ होनेसे महत्तत्त्व, बुद्धि, महत्तत्त्वसे अहङ्कार, उससे सूक्ष्ममहाभूत, इन्द्रियाँ, स्थूल-महाभूत एवं तदुपलक्षित देवताओंका सम्भव या कारणसृष्टि ही सर्ग है और कर्मसृष्टि प्रतिसर्ग है, ब्रह्मप्रसूत राजाओंका वंश-वंशानुवर्णन है । देव मनुओंसे उनके पुत्रादिकी उत्पत्ति सप्तर्षि इन्द्रादिक वर्णन ही मन्वन्तर वर्णन है, पूर्वोक्त राजाओंके वंशधरोंकी घटना ही वंयानुचरित है । यह पुराण भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भिन्न-भिन्न कथाओंमें है, उनमें सात्त्विक कल्पमें श्रीहरिका अधिक माहात्म्य, राजस कल्पमें ब्रह्माका अधिक माहात्म्य, तामसकल्पमें अग्नि और शिवका अधिक माहात्म्य है । सत्त्वरजस्तमोमय सङ्कीर्ण कल्पोंमें सरस्वती और पितृगणोंका अधिक माहात्म्य है । अग्नि शब्दसे यज्ञ भी विवक्षित है एवं शिवसे चकारके द्वारा शिवा भी निर्दिष्ट है । सरस्वती शब्दसे वाण्यात्मक सरस्वतीके द्वारा उपलक्षित देवगणका माहात्म्य बोधित है । पितृगणके द्वारा 'कर्मणा पितृलोकः' इत्यादि वेदके द्वारा प्रतिपादित पितृलोकप्रापक श्राद्ध आदि कर्मोंके माहात्म्यका निर्देश है ।

इस प्रकार कल्पभेदसे नाना देवताओंका प्रतिपादक होनेपर भी मत्स्यपुराणके अनुसार पुराणोंकी संख्या और पुराणोंके दानाध्यायमें लिखित भिन्न-भिन्न कल्पकथाके द्वारा प्रसिद्ध सभी पुराणोंकी व्यवस्था भी प्रदृष्ट हुई है । अतः पुराणका प्रामाण्य प्रतिष्ठित है एवं सभी पुराणोंका प्राधान्य सम है ।

# गीताका कर्मयोग—६१

## [ गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या ]

( परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

[ गताङ्क सं० ३, पृष्ठ सं० ५०५से आगे ]

श्लोक—

**त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥**

*भावार्थ*—कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका कर्म, कर्म-सामग्री और कर्मफल—तीनोंके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रहता। उसमें प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंका किञ्चिन्मात्र भी आश्रय नहीं रहता। वह सर्वथा स्वाधीन रहता है। नाशवान् पदार्थोंका आश्रय न रहनेके कारण वह अपने-आपमें ही सदा तृप्त रहता है। जबतक नाशवान् पदार्थोंका आश्रय रहता है, तबतक इस नित्यतृप्तिका अनुभव नहीं होता। संसार अनित्य है, इसलिये उससे होनेवाली तृप्ति भी अनित्य ही होती है; परंतु स्वरूप नित्य है, इसलिये उससे होनेवाली तृप्ति भी नित्य ही होती है। ऐसा महापुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको तत्परतापूर्वक करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता अर्थात् वह कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त ( असङ्ग ) रहता है।

*अन्वय*—**कर्मफलासङ्गम्, त्यक्त्वा, निराश्रयः, नित्यतृप्तः, सः, कर्मणि, अभिप्रवृत्तः, अपि, किंचित्, एव, न, करोति ॥ २० ॥**

*पद-व्याख्या*—**कर्मफलासङ्गम् त्यक्त्वा**—( जो ) कर्मफलकी आसक्तिका त्याग करके—

जब कर्म करते समय कर्ताका यह भाव रहता है कि शरीरादि कर्म-सामग्री मेरी है, मैं कर्म करता हूँ, कर्म मेरा और मेरे लिये है तथा इसका मुझे अमुक फल मिलेगा, तब वह कर्मफलका हेतु बन जाता है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेदका अनुभव हो जाता है, इसलिये कर्म करनेकी सामग्रीमें, कर्ममें तथा कर्मफलमें किंचित् भी आसक्ति न रहनेके कारण वह कर्मफलका हेतु नहीं बनता; यही है—**'मा कर्मफलहेतुर्भूः'** ( गीता २ । ४७ )।

सेना विजयकी इच्छासे युद्ध करती है। विजय होनेपर विजय सेनाकी नहीं, अपितु राजाकी मानी जाती है; क्योंकि राजाने ही सेनाके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध किया है; उसे युद्ध करनेकी सामग्री दी है और उसे युद्ध करनेकी प्रेरणा की है; साथ ही सेना भी राजाके लिये ही युद्ध करती है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जीव उनके द्वारा किये गये कर्मोंके फलका भागी होता है।

कर्म-सामग्रीके साथ किंचित् भी सम्बन्ध न होनेके कारण महापुरुषका कर्मफलके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

वास्तवमें कर्मफलके साथ स्वरूपका सम्बन्ध है ही नहीं; कारण कि स्वरूप चेतन, अविनाशी और निर्विकार है; परंतु कर्म और कर्मफल—दोनों जड तथा विकारी हैं और उनका आरम्भ तथा अन्त होता है। सदा स्वरूपके साथ न तो कोई कर्म रहता है तथा न कोई फल ही रहता है। इस प्रकार यद्यपि कर्म और फलसे स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि प्राणीने भूलसे उनके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनका कारण है। यदि यह माना हुआ सम्बन्ध मिट जाय, तो कर्म और फलसे उसकी स्वतःसिद्ध निर्लिप्तताका बोध हो जाता है।

**निराश्रयः**—आश्रयसे रहित—

कर्म, कर्म-सामग्री और कर्मफलका किञ्चित् भी आश्रय न लेना ही 'निराश्रय' अर्थात् आश्रयसे रहित होना है। छठे अध्यायके पहले श्लोकमें **'अनाश्रितः कर्मफलम्'** पदोंसे भी यही बात कही गयी है।

जबतक प्रकृति और उसके कार्यका आश्रय रहता है तबतक मनुष्य पराधीन रहता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है। आश्रय न रहनेसे मनुष्य स्वाधीन होकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। कर्मयोगी मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानकर उन्हें संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इसलिये वह संसारके आश्रित नहीं रहता।

**नित्यतृप्तः**—( तथा ) सदा तृप्त है।

जीव ( आत्मा ) परमात्माका सनातन अंश होनेसे सत्-स्वरूप है। सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** ( गीता २। १६ )। परंतु जब वह असत्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव अर्थात् कमीका अनुभव होने लगता है। उस कमीकी पूर्ति करनेके लिये वह सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। इच्छित वस्तुओंके मिलनेसे एक प्रकारकी तृप्ति होती है; परंतु वह तृप्ति ठहरती नहीं, वह क्षणिक होती है; कारण कि संसारकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि प्रतिक्षण अभावकी ओर जा रही है; अतः उनके आश्रित रहनेवाली तृप्ति स्थायी कैसे रह सकती है? सत्-वस्तुकी तृप्ति असत्-वस्तुसे हो ही कैसे सकती है? अतः जीव जबतक उत्पत्ति-विनाशशील क्रियाओं और पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मानता है तथा उनके आश्रित रहता है, तबतक उसे स्वतःसिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव नहीं होता।

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष निराश्रय अर्थात् संसारके आश्रयसे सर्वथा रहित होता है, इसलिये उसे स्वतः-सिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव हो जाता है। तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें **'आत्मतृप्तः'** पदसे भी इसी नित्यतृप्तिकी बात आयी है।

**सः कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि किंचित् एव न करोति**—वह कर्मोंमें भलीभाँति लगा हुआ भी (वास्तवमें ) कुछ भी नहीं करता।

**'अभिप्रवृत्तः'** पदका तात्पर्य है कि कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषके द्वारा होनेवाले सब कर्म साङ्गोपाङ्ग रीतिसे होते हैं; क्योंकि कर्मफलमें उसकी किञ्चित् भी आसक्ति नहीं होती। उसके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके हितके लिये—लोकसंग्रहार्थ होते हैं।

जिसकी कर्मफलमें आसक्ति होती है, वह साङ्गोपाङ्ग रीतिसे कर्म नहीं कर सकता; क्योंकि फलके साथ सम्बन्ध होनेसे कर्म करते हुए बीच-बीचमें फलका चिन्तन होनेसे उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च हो जाती है, जिससे उसकी शक्ति पूरी तरह कर्म करनेमें नहीं लगती।

**'अपि'** पदका तात्पर्य है कि साङ्गोपाङ्ग रीतिसे सब कर्म करते हुए भी वह वास्तवमें किंचित् भी कोई कर्म नहीं करता; क्योंकि सर्वथा निर्लिप्त होनेके कारण कर्मका स्पर्श ही नहीं होता। उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जब वह कुछ भी नहीं करता, तब कर्मफलसे बँध ही कैसे सकता है? इसीलिये अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीको कर्मोंका फल कहीं भी नहीं मिलता—**'न तु संन्यासिनां क्वचित्'**।

प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। अतः जबतक प्रकृतिके गुणों-( क्रिया और पदार्थ- ) से सम्बन्ध है, तबतक कर्म न करते हुए भी मनुष्यका कर्मोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृतिके गुणोंसे सम्बन्ध न रहनेपर मनुष्य कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका प्रकृतिजन्य गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह लोकहितार्थ भलीभाँति कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता ( गीता ५। ७ )। ( क्रमशः )

# पछतावा

## [ कहानी ]

( लेखक—श्रीकेशवदेवजी मिश्र कमल )

आँगनके कोनेमें लगे कूड़ेके एक छोटे-से ढेरपर कबूतर पक्षीके जोड़े अनाजके दाने चुग रहे थे और वे आनन्द-विभोर हो अपनी गर्दनको फुला-फुलाकर कुछ अस्पष्ट स्वरोंमें गुनगुनाते भी जा रहे थे। पास ही सतीश और राधा भी रंग-बिरंगे कपड़े पहनाकर अपने गुड्डा-गुड्डियोंका रास कर रहे थे। इतनेमें राधाकी दृष्टि खेलसे हटकर उस पक्षीके जोड़ेपर पड़ी। राधाने व्यग्रतासे कहा—'सतीश! ओ सतीश! चलो इन्हें पकड़ें। अरे देखो, कितने अच्छे हैं ये। सच सतीश, इन्हें अवश्य पकड़ें।'

सतीशने क्रिया और कहा—बाबा कहते थे—'राधा! जीवको सताना अच्छा नहीं होता।'

राधा—'अच्छा क्या नहीं होता!'

सतीश—'पाप लगता है राधा!'

'ऊँह—पाप क्या होता है!' कहती हुई राधा बलपूर्वक सतीशका हाथ पकड़कर उसे उधर ही खींच ले गयी। फिर वे दोनों बालक कबूतर-कबूतरीको पकड़नेका प्रयास करने लगे, किंतु निष्फल।

× × ×

जंगलमें एक पेड़ था, उसपर उनका घोंसला था। उस घोंसलेमें वे दोनों कबूतर-कबूतरी रहते थे। दोनोंमें अगाध प्रेम था। उन दोनोंके शरीर दो, पर प्राण एक थे। दोनों ही एक साथ नभ नापते, पृथ्वीपर दाना चुगकर पेट पालते, नदी-सरोवरोंमें पानी पीकर प्यास बुझाते, वायुमें खेलते, आनन्दातिरेकमें पर फैला-फैलाकर रेतीमें तैरते और वे कभी एक-दूसरेको अलग न होने देते।

उषा जब इनके तृण-निर्मित कपाटोंको खोलती तो ये निकलकर आकाशमें लंबी उड़ान भरते और भरते रहते। फिर कहीं दूर, बहुत दूर जाकर पृथ्वीपर उतर जाते। शालियाँ चुगते, पेट भरते और संध्या होते-होते अपने नीड़में वापस आ जाते। दोनोंका नित्यका यही क्रम था, दोनों बड़े सुखी थे।

कबूतर-कबूतरी दोनों आकाशमें उड़ रहे थे। दोनोंकी दृष्टि अचानक उस आँगनमें बिखरे अनाजपर गयी, जहाँ वे दोनों बच्चे सतीश और राधा खेल रहे थे। दोनों कबूतर-कबूतरी उतरे और आँगनमें पड़ाव डाल दिया। बिना आमन्त्रणके ही वे दोनों पक्षी निमन्त्रित हो गये और परसे हुए पदार्थको दोनों एक-दूसरेका मुँह निहार-निहारकर खाने लगे।

राधाने देखा, वह सावधान हुई और बड़ी सतर्कतासे उसने अपनी कमीज उतारकर उन पक्षियोंपर डाल दी। कबूतर उसमें आ गया, वह उड़ नहीं सका। कबूतरीने जोरसे हाथ-पाँव मारे और वह निकल भागी।

कुछ देर वह घबरायी-सी इधर-उधर देखती रही, फिर उड़कर मुँडेरपर जा बैठी। कबूतरी बन्धनमुक्त थी,

स्वतन्त्र थी, किंतु यह स्वतन्त्रता आज उसे लाख बन्धनोंसे भी बढ़कर थी। वह तड़प रही थी, उस हृदयकी पीड़ाको आज कौन समझ सकता था !

हृदयमें आशाकी बेल और आँखोंमें आँसुओंका वेग लिये उस असहाय कबूतरीको मुँडेरपर बैठे-बैठे संध्या हो चली, पर उन बालकोंने कबूतरको छोड़नेका नाम-तक न लिया। कबूतरी भी थकी, क्लान्त, आखिर उसी तरह मुँडेरपर बैठी रही। कबूतरीका नीड़ था, पर आज वह सूना था। सर्बस्व खोकर उस नीड़में अकिंचन रहकर क्या उसे शान्ति मिल सकती थी !

राधा घरसे चावल ले आयी। सतीश पानी लाया। दोनों मिलकर कबूतरको खिलाने-पिलाने लगे। पर उसने तो एक दानातक नहीं चुगा। आज उसे भूख कहाँ थी ! यदि वे दोनों ही आज बन्धनमें होते तो मरना भी उसे अच्छा लगता। पर आज उस कबूतरको वह एकाकी बंदी जीवन कितना असह्य था, कितना निर्मम था।

राधा और सतीश कबूतरको पकड़कर प्रसन्न थे। दोनोंने एक टोकरीके नीचे कबूतरको रहनेकी जगह दी और दूसरी ओर कबूतरी अपना सशंक चित्त लिये ऊपर मुँडेरपर उसी तरह अब भी बैठी हुई थी।

रजनीके निबिड़ तममें जब समस्त जगती निद्रामें सोयी हुई थी, तब नित्यके सोनेवाले आज वे दोनों प्राणी कबूतर और कबूतरी एक टोकरीके नीचे, दूसरा मुँडेरपर बराबर जाग रहे थे। उनकी आँखोंमें नींद नहीं थी, आलस्य नहीं था। थी एकमात्र अभिलाषा दोनोंको अपने पुनर्मिलनकी। किंतु किसे पता था कि आजका उनका यह रात्रि-जागरण सदाके लिये ही उस कबूतरकी चिर-निद्रा बन जायगी।

बिल्ली घूमती-घामती उस आँगनमें भी आयी; जहाँ टोकरीके नीचे दो बालकोंका खिलौना उस कबूतरीका जीवन-धन सुरक्षित रखा था। पहले तो बिल्लीने उस टोकरीकी चहारदीवारीका चक्कर लगाया। फिर उसे सूँघा, बादको चोरोंकी भाँति दबे पाँव टोकरीको धीरेसे खिसकाकर कबूतरको मुँहमें दबाकर ले चली। ऊपरसे यह दृश्य कबूतरीने देखा और देखा—अपनी जीवन-निधिको अपनी ही आँखोंके सामने लुटते और देखा—अपने प्राणोंको निरीहावस्थामें तड़पते ! जो दृश्य कबूतरीने देखा, वह उसे असह्य हुआ। वह एकाएक चीखी। उसकी चीख सुनकर पेड़ोंपर बैठे और पक्षी भी उसकी सहानुभूतिमें चीख उठे। मानो वे सब मिलकर बिल्लीके अत्याचारमें विरोध प्रदर्शित कर रहे हों। इससे अधिक वे कर ही क्या सकते थे ! कबूतरीसे वह बीभत्स दृश्य नहीं देखा गया। वह कबूतरके रक्षार्थ मुँडेरसे उड़कर नीचे ऐसी तेजीसे आयी मानो वह बिल्लीको आते ही निगल जायगी और अपने कबूतरको कालके गालसे खींच ले जायगी; किंतु बेचारीका बश ही कहाँ चला। निराश वह हार मानकर पुनः उसी मुँडेरपर जा बैठी। कबूतरीके देखते-ही-देखते बिल्लीने अपने आखेटको धीरे-धीरे उदरस्थ कर लिया। बाकी कुछ न छोड़ा। स्मृतिमें वह केवल पंख छोड़ गयी।

× × ×

अब वे दोनों बालक राधा और सतीश वैवाहिक बन्धनमें बँधे तो दाम्पत्यके सुख-विलासमें अतीतके सारे पुण्य-पाप भूल गये। स्मृतियाँ धूमिल होकर पता नहीं किस अनन्तमें खो गयीं।

उन दोनों ही युवक-युवतीका हृदय-सागर हिलोरें ले रहा था। मनमें बहुत कुछ आकाङ्क्षाएँ थीं—आकाङ्क्षाएँ किशोर, जो उमगा आता था मानो भीतरसे एक वैभव उत्छाहमें हिलोर लेता फुहारमें फूटकर एक-दूसरेके आगे झर पड़ना चाहता था। वे दोनों

जगतीके दुःखोंसे अनजान थे और सुख उनकी सीमामें था। वे बहुत सुखी थे।

एक दिन ग्रीष्ममें सायंकाल राधा सतीशकी इच्छाके विरुद्ध उसे नदी-तट ले आयी। फिर वे दोनों एक-दूसरेका हाथ पकड़कर पानीमें उतर गये। उतरकर शीतल जल-लहरोंसे खेलने लगे। इस प्रकार वे दोनों नदीकी शीतल जल-धारामें दिनभरकी तपन बहाये जा रहे थे। राधा सतीशके ऊपर पानी उछालती और सतीश राधाके ऊपर। दोनों ही उस जल-क्रीड़ामें मग्न थे। दोनों बड़े सुखी थे।

पानीमें इस प्रकार खेलते-खेलते जब बहुत देर हो गयी और झुट-पुटा बढ़ता आया तो सतीशने कहा—'राधा! लो, अब चलें, बहुत देर हो गयी, बाबा नाराज हो………।' इतना ही कहा था कि एकदम पानीमें चला गया और गायब हो गया!

कुछ दूरपर ही राधाने देखा कि एक बड़ा-सा जानवर सतीशको अगाध पानीकी ओर मुँहमें निगल जानेके प्रयत्नमें उछालता-डुबोता लिये जा रहा है….!!

राधा भागकर किनारे आ गयी। वह न तो रोयी, न चिल्लायी। किंकर्तव्यविमूढ़ बनी वह कुछ पूछती-सी आँखोंसे, कालके गालमें जा रहे सतीशकी ओर फिर नदीके उस अथाह जलको देख रही थी। आँखोंके सामने ही उसका जीवन-धन लुट रहा था और वह खड़ी-खड़ी देख रही थी। यदि वहाँ वह किसीको पुकारे भी तो किसे! वहाँ तो कोई भी न था।

उसकी भीगी आँखोंसे आँसुओंकी दो बूँदे ढुलक कर वहीं जमीनपर गिर पड़ीं और लगा कि व्याकुल कबूतरी छटपटा रही है।

# देवालय-संरक्षण

( लेखक—श्रीजयगोपालजी सिंहल )

**'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'**—मनुष्य श्रद्धामय है। किसी भी स्थानपर किसी भी वंश, जाति, परम्परामें मनुष्य जन्म ले, परंतु उसकी श्रद्धा ही उसके स्वरूपका प्रतीक है। कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी बिन्दुपर आकर मानवकी श्रद्धा केन्द्रित हो ही जाती है और वह उसी मानव-बिन्दुके आधारपर उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाता है। भारतवर्ष विश्वका हृदय-स्थान है। आध्यात्मिकता, धार्मिकता इस देशके कण-कणमें व्याप्त है। आजसे नहीं, अनादिकालसे भारतीयोंकी स्वस्थ चिन्तनधारा स्वतन्त्ररूपसे प्रवहमान रही है। मनुष्य-शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना है। अतः स्वभावतः मनुष्यकी श्रद्धा एवं स्वभावके अनुसार सगुण ब्रह्मकी पञ्चोपासनाकी और प्रवृत्ति होती है। पृथक्-पृथक् तत्त्वके पृथक्-पृथक् देवता होते हैं। अतः जिस तत्त्वकी प्रधानता जिस मनुष्यके स्वभावमें होगी, उसी तत्त्वसे सम्बन्धित देवताके प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि होगी। अतः महर्षियोंने विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न देवोंकी उपासनाका निर्देश किया है। हमारे देवालय भारतीय संस्कृतिके केन्द्र हैं, जहाँ मनुष्य अपनी श्रद्धा एवं स्वभाव तथा अभिरुचिके अनुसार स्वतन्त्ररूपसे साधना कर आत्मोन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी तत्त्वके गुण कहे गये हैं और विष्णु, सूर्य, शक्ति, गणपति एवं शिवका इनसे क्रमशः सीधा

सम्बन्ध है। अतः मनुष्य अपने स्वभावानुसार न्यूनाधिक रूपमें इन देवताओंकी ओर श्रद्धासे उन्मुख होता है और उनकी आराधनाके लिये, उपासनाके लिये अच्छे-से-अच्छे मन्दिरोंका निर्माण करता है, उनमें प्रतिमाओंकी प्राण-प्रतिष्ठा करता है और इष्टदेवकी मूर्तिके माध्यमसे उक्त परमतत्त्वको प्राप्त करता है। वह अपने मनकी चिन्ता, दुःख, विषमता आदि विषम स्पन्दनोंको अपने भगवद्विश्वासरूपी सम-शक्तिद्वारा पराभूत करते हुए आत्मशक्तिको प्रकाशित करनेमें सफल हो जाता है।

हमारे महर्षियोंने बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक इन सभी बातोंपर विचार करते हुए मन्दिरोंका विज्ञान-सिद्ध निर्माण करानेका विधान किया है, जहाँ शङ्ख, घण्टा, घड़ियाल आदिके द्वारा शब्द, धूप, दीप आदिके सुगन्धित वायुसे 'गन्ध' एवं वायुकी शुद्धि विविध रंगोंके वस्त्रालङ्कारों, पुष्पों आदिसे सुसज्जित मूर्तियोंके स्पर्शसे, पूजनसे, दर्शनसे नेत्रोंको आह्लादित कर तृप्ति-लाभ करते हैं। केशर, चन्दन, तुलसी, गङ्गाजल, कस्तूरी-मिश्रित चरणामृत पानकर अनेक विकारोंका शमन करते हैं। दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा, मधु-मिश्रित पञ्चामृतके पानसे अनेक शारीरिक विकारोंको दूर कर, इस पाञ्चभौतिक शरीरको देवालयमें प्रवेशका अधिकारी बनाकर पवित्र अलौकिक वातावरणका निर्माण कर आत्मलाभ करते हैं।

अपनी इसी उपासना-पद्धतिको अपनाते हुए भारतीय जनोंने लाखों-करोड़ों वर्षोंसे इस देशके कोने-कोनेमें स्थित नगरों, कस्बों तथा ग्रामोंमें हजारोंकी संख्यामें देवालयोंका निर्माण कर अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति की है। प्राचीन कालमें जब वर्तमान भौतिक साधन सुलभ नहीं थे, यहाँके निवासियोंने विशाल पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओं, शिखरों, उपत्यकाओंसे लेकर पवित्र नदियोंकी पावन घाटियों तकमें बड़े-बड़े विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण किया। उनमें भगवान्‌के अनेक रूपोंके श्रीविग्रह प्रतिष्ठित किये और सहस्रों रुपयोंसे दैनिक भोग तथा शृङ्गार, पूजन-अर्चन आदिके द्वारा अपनी श्रद्धाकी अभिव्यक्ति करते आ रहे हैं।

विदेशी आक्रमणोंसे इन पवित्र धरोहरोंकी रक्षाके लिये हजारों धर्मवीर बलिदानी वीरोंने अपने शीश तक कटाये, सर्वस्व बलिदान करके येन-केन-प्रकारेण इनकी रक्षा की और इनके अस्तित्वको कायम रखा। हमारे पूर्वजोंके अमर बलिदानोंका ही यह फल है जो देवालयोंके रूपमें विद्यमान हैं। भारत स्वतन्त्र हुआ तो इस देशकी धर्मप्राण जनताने सुखकी साँस ली और राष्ट्रभरमें एक नहीं अनेकों दिव्यातिदिव्य एवं भव्यातिभव्य मन्दिरोंका निर्माण कराया और अब भी यह क्रम जारी है। लक्ष्मीके उपासक, धर्मप्रिय, धनाढ्य लोग अपने हृदयमें निहित श्रद्धा एवं भक्तिका प्राकट्य इन देवालयोंके निर्माणके माध्यमसे करते रहे हैं; जिससे यश और प्रसिद्धि मिलना उसका गौण एवं लौकिक फल है। भगवान् लक्ष्मी-नारायणकी कृपासे प्राप्त सम्पत्तिका विनियोग उनके भक्तोंद्वारा, उनके लिये विशाल भव्य मन्दिरोंके रूपमें होना स्वाभाविक ही है। '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**' की भक्तिभावना इन देवालयोंमें होनेवाले भोग-प्रसाद आदिसे स्पष्ट प्रकट होती है। परंतु उस सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् निर्गुण ब्रह्मकी सगुण-साकार श्रीविग्रहके रूपमें होनेवाली उपासनाका एक दुर्बल पक्ष भी है, जिसे छिपाना अनुपयुक्त होगा। उसीपर विचार करने-हेतु यह प्रसङ्ग उठाया गया है। कुछ साधनसम्पन्न न्यासों एवं समितियों आदिद्वारा संचालित व्यवस्थावाले देवालयोंको छोड़कर आज इन देवालयोंकी, हिन्दू-धर्म, संस्कृति-श्रद्धा एवं भक्ति-भावके प्रतीक इन आध्यात्मिक

केन्द्रोंकी वर्तमान दशापर देशवासियोंको विचार करना चाहिये । असंख्य मन्दिर उपेक्षित दशामें पड़े हुए हैं । पूजा-भोगकी नियमित व्यवस्था न होनेसे मूर्तियोंमें देवत्व नहीं रहता, ऐसा शास्त्रवचन है । देवत्वके अभावमें उत्तम पवित्र धरोहर अश्रद्धा उपेक्षा एवं उपहासका कारण बनकर, हमपर मूक दृष्टि डालकर कुछ करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं । जब वहाँ न घण्टा बजता है न घड़ियाल, न आरती होती है, न पूजन-प्रसाद, न सत्संग होता है न सत्-शिक्षाका प्रचार-प्रसार, न प्रकाशकी व्यवस्था है, न सफाईकी तो ऐसे देवत्वहीन वातावरणमें धर्म-हीन एवं धर्मके शत्रु नास्तिक व्यक्ति चोर और तस्कर बनकर हमारी संस्कृतिघातियोंके रूपमें प्रतिष्ठित हो कला और धर्मके प्रतीक, भक्ति और श्रद्धाके प्रतीक उन मूर्तियोंको देशके बाहर भेज रहे हैं, जो विदेशी विधर्मियों और बड़े-बड़े धनाढ्य अरबपतियोंके ड्राइंग रूमोंकी शोभा बढ़ा रही हैं । वे धीरे-धीरे भक्ति-भावसे आप्यायित देवालयोंको शुष्क श्मशानके रूपमें परिवर्तित करनेका कुकृत्य कर रहे हैं ।

हम अपनेको धर्मात्मा कहलानेमें निःसंदेह गौरव अनुभव करते हैं । अधिकांश व्यक्ति अपने-अपने विश्वासानुसार नित्य मन्दिरमें जाकर दर्शन-पूजन-अर्चनादि भी करते हैं । विभिन्न अवसरपर बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठान भी सम्पन्न कराते हैं, जिनमें आज भी लाखों-करोड़ों रुपये नित्य इस धर्मप्राण देशमें व्यय होते हैं, यह सन्तोषकी बात है । परंतु इन मन्दिरोंके ठीक-ठीक रख-रखावके लिये, मूर्तियोंकी रक्षाके लिये, आज इन भक्तोंतकको समय नहीं है तो फिर अन्योंसे क्या आशा की जायगी कि वे इस पुनीत कार्यकी ओर अग्रसर होंगे । विभिन्न सम्प्रदायोंके मूर्धन्य आचार्यों-से विनम्र, करबद्ध निवेदन है कि वे देवालय-संरक्षण-कार्यकी ओर थोड़ा ध्यान देकर इस अमर थातीकी रक्षा करनेमें मार्ग-दर्शन करें । अपने अनुयायियों, भक्तोंको इस ओर प्रेरित करें कि चाहे नये मन्दिरोंका निर्माण सम्प्रति स्थगित भी करना पड़े, परंतु प्राचीन देवस्थानोंकी मरम्मत, सफाई, पुताई, प्रकाश, पानी, पूजा एवं आरतीकी व्यवस्थाके साथ-साथ मूर्तियोंकी सुरक्षाकी ओर शीघ्र ध्यान दें ।

सम्पूर्ण देशमें धर्मप्राण जनताको चाहिये कि इस ज्वलन्त प्रश्नपर गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपने-अपने क्षेत्रोंके महात्माओं, विद्वानों, आचार्योंकी संरक्षतामें योजनाबद्ध रूपसे कार्यका संचालन करें । छोटे-बड़े सभी मन्दिरोंकी सूचियाँ तैयार करके उपेक्षित पड़े मन्दिरोंके जीर्णोद्धारमें लग जायँ । थोड़ी-थोड़ी मरम्मत एवं पुताईसे ही चाहे कार्य आरम्भ हो, परंतु यह आज समयकी पुकार है । हमारी आस्थाके मान-बिन्दुओंपर आज संकट है, हमारे चरित्रके हनन एवं धार्मिक संस्कारोंके समूल नष्ट होनेकी स्थिति बनी हुई है । सम्पूर्ण राष्ट्रके सर्वधर्म समभाव और 'वसुधैव कुटुम्बकम्'-की उदात्त भावनासे परिपूरित होते हुए भी आज इस राष्ट्रके निवासियोंके रक्तमें धर्मविहीनताके विषैले तत्त्व शनैः-शनैः प्रविष्ट हो रहे हैं । इतिहास साक्षी है कि जब भी इस धर्मपर आपत्ति आयी, इसके अनुयायियोंने प्राणपणसे उसकी रक्षा की है । आओ, हम प्रतिज्ञा लें कि आजके इस भीषण कालमें हम अपनी उस पवित्र धरोहरोंकी रक्षामें आजसे ही जुट जायँगे और सभी देवालयोंके निकट-निवासियोंसे सम्पर्क स्थापित कर उन्हें इस पुनीत कार्यके लिये प्रेरित करेंगे ।

# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## नारीमें अद्भुत शक्ति

अब तो मेरी अवस्था लगभग चालीस वर्षकी है, परंतु यह बात तबकी है, जब मैं दस वर्षकी थी। हमारे पड़ोसमें एक चन्दूलाल मास्टर रहते थे। उनकी पहली पत्नीका देहान्त हो गया था। उन्होंने दूसरा विवाह किया था। पहली पत्नीसे पुत्री हुई थी, जिसका नाम चम्पा था। उन्होंने सोचा तो यह था कि दूसरी पत्नीके आनेपर चम्पाको माँ मिल जायगी और वह सुखी हो जायगी, किंतु हुआ वही, जो प्रायः होता है। नयी पत्नी बड़ी कर्कशा निकली। वह चम्पाको अकारण ही सताया करती। चंदू मास्टर बहुत दुःखी रहते। कभी-कभी कह भी बैठते कि यदि ऐसा पता होता कि दूसरा विवाह करनेसे इसका दुःख बढ़ जायगा तो विवाह कभी न करता। किंतु अब क्या होनेवाला था ?

चम्पा मेरे साथ ही पढ़ती थी। हम दोनों साथ-साथ पढ़ने जाती। अपनी सौतेली माँद्वारा दिये जानेवाले त्रासोंको वह मुझसे तथा हमारे घर आकर मेरी माँसे भी कहती। सुनकर हमारे नेत्रोंमें भी अश्रु आ जाते और उसे समझा-बुझाकर घर भेजती। कुछ दिन बाद उसकी सौतेली माँके आग्रहसे उसका पढ़ना भी बंद करा दिया गया और वह घरके काममें लगा दी गयी। चन्दू मास्टरकी नयी पत्नीने अपने एक सम्बन्धीके यहाँ चम्पाका विवाह करा दिया। वर-पक्षसे उसने इसमें अच्छी-खासी रकम ली थी; क्योंकि लड़का धनी परिवारका होते हुए भी बिल्कुल मूर्ख-जैसा था। चम्पाने सोचा कि चलो ससुरालमें जाकर तो सौतेली माँके त्राससे छूट जाऊँगी, किंतु उसे यहाँ भी वही दुःख भोगनेको मिला। सास-ननद अकारण परेशान करतीं। पति तो पागल-जैसा था ही। उसको उल्टा-सीधा पढ़ाकर उससे वे चम्पाको पिटवातीं। अब उसे संसारमें कोई भी अपना न दीखता था। वह कई बार आत्महत्या करनेकी सोचती, परंतु पिताजीका स्मरण हो आता, और रुक जाती।

कुछ दिन बाद वह ससुरालसे गाँव आयी। उसने अपने दुःखकी सब बातें हमारी माँको सुनायीं। माँने उसे आश्वासन दिया और फिर चन्दू मास्टरको बुलाकर सब बताया तथा कहा कि अब इसे ससुराल न भेजकर यहीं पढ़ाइये और किसी काममें लगा दीजिये, जिससे यह अपना जीवन-यापन कर सके। पत्नीके भयसे चन्दू मास्टर अपने पास तो उसे नहीं रख सके, परंतु उन्होंने उसकी एक मौसीके पास भेज दिया। वह अकेली थी और एक पाठशालामें अध्यापिका थी। उसने चम्पाको बड़े प्रेमसे रखा और पढ़ाया। मैट्रिककी परीक्षा पास कर लेनेपर वहीं पाठशालामें उसे अध्यापकीका काम भी दिला दिया। अब चम्पा सुखसे रहने लगी।

अचानक एक दिन उसके पिता चन्दू मास्टर आये और वे उससे ससुराल चले जानेका आग्रह करने लगे; कारण कि चम्पाके पति बहुत अधिक बीमार थे। मौसीकी इच्छा तो नहीं थी, परंतु तब भी चन्दू मास्टरके कहनेसे उन्होंने चम्पाको कुछ दिनकी छुट्टियोंपर ससुराल भेज दिया। वह ससुराल पहुँची तो देखा परिवारके सब लोग बहुत दुःखी हैं। उसका पति किशोर मूर्च्छित अवस्थामें बीमार पड़ा है। वह तन-मनसे सेवामें जुट गयी। दिन-रातके परिश्रमके परिणामस्वरूप उसका पति ठीक हो गया। थोड़े ही दिनोंमें वह टहलने भी लगा। अब चम्पाने अपनी नौकरीपर वापस जानेकी बात चलायी। ससुराल-वालोंकी आज्ञा मिलनेपर वह अपने पतिके साथ

मौसीके पास आ गयी। मौसीको किशोरका आना अच्छा नहीं लगा था, फिर भी उसने कुछ कहा नहीं। चम्पा पतिके साथ दूसरा घर लेकर मौसीकी आज्ञासे अलग रहने लगी। वह घरपर रहकर अपने पति किशोरको लगनपूर्वक पढ़ाती। कुछ दिनोंमें ही उसे मैट्रिक-परीक्षा दिला दी और पास हो जानेपर अपनी पाठशालामें ही अध्यापक बना दिया। प्राइवेट परीक्षा देकर उसने एम्० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। पति किशोर उसका अब बहुत सम्मान करता। उनकी दो संतानें हुईं—एक पुत्र, एक पुत्री। किशोर कभी-कभी कहता कि मैं अपने बच्चोंको इतना अधिक पढ़ाऊँगा कि वह पढ़कर अपनी माँ जितने होशियार बन जायँ। उनके नेत्रोंमें चम्पाके प्रति अपार कृतज्ञता सदा दिखायी देती थी।

यह सुयोग देखकर मुझे ऋषि-महर्षियोंकी वह बात स्मरण हो आयी, जिसमें पतिव्रता नारीकी महिमा बतायी गयी है और कहा है कि कुशल सद्-गृहिणी चाहे तो परिवारका जीवन बदलकर सुखमय बना सकती है। चम्पाने अपने एक पागल पतिको महान् विद्वान् बना दिया—अपनी सेवा और सद्व्यवहारके बलपर। नारी-शक्तिकी इस महत्तापर मेरा मस्तक बर-बस झुक जाता है।

( २ )

## सभी मनुष्य ऐसे ही बनें तो—

एक विद्यालयके प्रधानाचार्य देखनेमें शान्त, गम्भीर, मितभाषी और वयोंके अनुभवी थे। उनकी धर्मपत्नी भी उतनी ही मिलनसार और सद्भावपूर्ण थीं। वे सुखमय दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते थे। किसी वस्तुकी कमी नहीं थी।

प्रधानाचार्यके जीवनकी विशेषता थी, उनकी पत्नीकी अनुकूलता। ऐसा दाम्पत्य-जीवन सौभाग्यसे ही प्राप्त होता है। उनके विद्यालयमें कोई विद्यार्थी अपंग हो, बहरा हो अथवा तोतला हो तो आचार्य उसके प्रति बहुत स्नेह रखते—वे इसे अपना कर्तव्य समझते थे।

कभी गाँवमें कोई अंधा या साधु-संत आ जाय तो वे स्वयं उन्हें अपने घर भोजन करनेकी प्रार्थना करते और घर ले जाकर प्रेमसे भोजन कराते।

एक समय एक कुरूप व्यक्ति गाँवमें कहींसे आ गया। लड़कोंने उसके पीछे पड़कर बहुत परेशान किया। उसके तितर-बितर बाल, गड्ढे-जैसी आँखें, एक बड़ा-सा लोटा, अस्त-व्यस्त कपड़े, मैला और दुर्गन्धिवाला वह व्यक्ति पूरे गाँवमें घूम चुका। उसके पासतक कोई खड़ा होना नहीं चाहता था। कटे हुए ओठ उसकी भयंकरताको बढ़ा रहे थे। दोपहरतकमें तो गाँव छोड़कर चले जाने-जैसी उसकी स्थिति आ गयी। लड़कोंके द्वारा ही प्रधानाचार्यके कानोंतक यह बात पहुँची। वे चल पड़े उस कुरूप व्यक्तिके अन्वेषणमें। गाँवके बाहर वह भूखा-प्यासा बैठा हुआ था, वहाँ पहुँच गये। पहले तो वह इन्हें देखकर भयभीत हो गया कि कहीं ये भी मारने या सताने तो नहीं आ रहे हैं; परंतु इनके 'ओ भाई!' प्रेम-भरे शब्द सुनकर उसके मुखमण्डलपर प्रसन्नता दौड़ गयी।

समीप जाकर आचार्यने उसका हाथ पकड़ा और अपने घर भोजन करनेके लिये कहा। पूरे गाँवपर जो एक घड़ी पहले रोष व्यक्त कर रहा था, वह अब गाँवको आदरभरी दृष्टिसे देखने लगा। दोनों घर पहुँचे।

प्रधानाचार्यने उसे नहानेको गर्म पानी दिया। मानो घरपर कोई मेहमान आया हो। उसे नहलाया और पहननेको कपड़े दिये। इतना ही नहीं, प्रेमसे भोजन कराया और पाँच रुपये दिये। कोई परेशान न करे, इससे वे उसे गाँवके बाहर तक पहुँचाने गये।

यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग जब मैंने सुना तो मेरा मस्तक उन प्रधानाचार्यके प्रति स्वतः झुक गया और अनेक प्रश्नोंमें एक प्रश्न यह भी अधिक हो गया कि यदि 'सभी मनुष्य ऐसे ही बनें तो !'

( अखण्ड-आनन्द, )

—रमा यादव

( ३ )

## पती-पत्नी दोनों निःस्पृह

बात अठारहवीं शताब्दीकी है। पण्डित श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तने अध्ययन समाप्त करके बंगालके विद्या-केन्द्र नवद्वीप नगरके बाहर अपनी कुटिया बना ली थी और पत्नीके साथ त्यागमय ऋषि-जीवन बिता रहे थे। उनके यहाँ अध्ययनके लिये छात्रोंका एक समुदाय सदा टिका रहता था। पण्डितजीने वहाँके अन्य विद्वानोंके समान राजासे कोई वृत्ति नहीं ली थी और वे किसीसे कुछ माँगते भी नहीं थे। एक दिन जब वे विद्यार्थियोंको पढ़ाने जा रहे थे, उनकी पत्नीने कहा—'घरमें एक मुट्ठी चावलमात्र है, भोजन क्या बनेगा ?' पण्डितजीने केवल पत्नीकी ओर देख लिया, कोई उत्तर दिये बिना ही कुटियासे बाहर वे अपने छात्रोंके बीच ग्रन्थ लेकर बैठ गये।

भोजनके समय जब वे भीतर आये, तब उनके सामने थोड़ेसे चावल तथा उबाली हुई कुछ पत्तियाँ आयीं। उन्होंने पत्नीसे पूछा—'भद्रे ! यह स्वादिष्ट शाक किस वस्तुका है ?'

पत्नीने कहा—'मेरे पूछनेपर आपकी दृष्टि इमलीके वृक्षकी ओर गयी थी। मैंने उसीके पत्तोंका शाक बनाया है।'

पण्डितजीने निश्चिन्ततासे कहा—'इमलीके पत्तोंका शाक इतना स्वादिष्ट होता है, तब तो हमलोगोंको भोजनके विषयमें कोई चिन्ता ही नहीं रही।'

इस समय कृष्णनगरके राजा थे—महाराज शिवचन्द्र। उन्होंने पण्डित श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तकी विद्वत्ताकी प्रशंसा और उनकी आर्थिक स्थितिकी बात भी सुनी। महाराजने बहुत प्रयत्न किया कि पण्डितजी उनके नगरमें आकर रहें, किंतु निःस्पृह ब्राह्मणने इसे स्वीकार नहीं किया। महाराज एक दिन स्वयं उनकी पाठशालामें पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके पूछा—'पण्डितजी ! आपको किसी विषयमें अनुपपत्ति तो नहीं है ?'

तर्कसिद्धान्तजी बोले—'महाराज ! मैंने चारु-चिन्तामणि ग्रन्थकी रचना की है। मुझे तो उसमें कोई अनुपपत्ति जान नहीं पड़ी। क्या आपको वहीं कोई अनुपपत्ति या असंगति मिली है ?'

महाराजने हँसकर कहा—'मैं आपसे तर्कशास्त्रकी बात नहीं पूछ रहा हूँ। मैं पूछता हूँ कि घरका निर्वाह करनेमें आपको किसी बातका अभाव तो नहीं ?'

पण्डितजीने सीधा उत्तर दिया—'घरकी बात तो घरवाली जाने।'

पण्डितजीकी आज्ञा लेकर महाराज कुटियामें गये। उन्होंने ब्राह्मणीको प्रणाम करके अपना परिचय दिया और पूछा—'माताजी ! आपके घरमें कोई अभाव हो तो आज्ञा करें, मैं उसकी पूर्तिकी व्यवस्था कर दूँ।'

ब्राह्मणी भी तो त्यागी निःस्पृह तर्कसिद्धान्तकी पत्नी थीं। वे बोलीं—'राजन् ! मेरी कुटियामें कोई अभाव नहीं है। मेरे पहननेका वस्त्र अभी इतना नहीं फटा कि जो उपयोगमें न आ सके, जलका मटका अभी तनिक भी फूटा नहीं है और फिर मेरे हाथमें चूड़ियाँ बनी हैं, तबतक मुझे अभाव क्या ?'

राजा शिवचन्द्रने भूमिमें मस्तक रखकर उस देवीको प्रणाम किया।　—वल्लभदास बिन्नाजी 'व्रजेश'

# मनन करने योग्य

## प्रेमोन्मत्तता

एक स्त्री बहुत दिनोंके बाद आये हुए अपने प्रेमीसे मिलनेके प्रेममें पगली हुई-सी चली जा रही थी। रास्तेमें बादशाहका पड़ाव था। बादशाह उस समय जाजिम बिछाकर नमाज पढ़ रहे थे। प्रेमोन्मत्त हुई उस स्त्रीको रास्तेका कोई भान नहीं था। वह जाजिमपर पैर रखकर आगे बढ़ गयी। बादशाहको गुस्सा तो आया, पर वे नमाज पढ़ रहे थे, इसलिये कुछ बोले नहीं। थोड़ी देरमें वह अपने प्रियतमसे मिलकर उसके साथ लौटी। बादशाहने उस स्त्रीको पास बुलाकर कहा—'अरी पापिनि! तुझे यह भी नहीं सूझा कि मैं नमाज पढ़ रहा हूँ और तू जाजिमपर पैर रखकर चली गयी।' उस प्रेमहृदया स्त्रीने निर्भयतासे कहा—'जहाँपनाह! एक मामूली मनुष्यके प्रेममें पगली होनेसे मुझको आपकी जाजिमका पता नहीं लगा, फिर भगवान्‌का ध्यान करते हुए आपने मुझको कैसे देखा? मालूम होता है कि आप केवल ऊपरसे ही नमाज पढ़ रहे थे, आपके मनमें भगवान् नहीं थे।'

उत्तर सुनकर बादशाहने अपनी भूल समझी और उस स्त्रीको धन्यवाद दिया। (सच है, उपासनाकी साधनामें तन्मयता ही सिद्धिदात्री होती है।)

## माताकी क्षमा

द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंकी हत्या सोते समय कर देनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामाको अर्जुन पकड़कर द्रौपदीके सामने ले आये। द्रौपदीने अश्वत्थामाको देखा। उसका क्रोध अकस्मात् शान्त हो गया। मातृहृदयमें दयाका सागर उमड़ पड़ा। द्रौपदीने अर्जुनसे कहा—'आर्य! इन्हें छोड़ दें, मैं इनके प्राण नहीं चाहती। ये गुरुपुत्र हैं। मेरे पाँचों पुत्रोंके मरनेसे जैसे मैं आज शोक-सागरमें डूब रही हूँ, यदि इन्हें मार दिया जायगा तो आपकी गुरुपत्नी भी मेरी ही तरह पुत्रशोकमें डूब जायँगी। मेरे पुत्र तो अब लौट कर आयेंगे नहीं, फिर बदला लेनेकी भावनासे मैं किसी दूसरी माताको अपनी ही भाँति दुखी बना दूँ, मेरा मन ऐसा नहीं चाहता। मैं इन्हें क्षमा करती हूँ। आपलोग भी क्षमा कर दें।'

पाण्डवोंपर द्रौपदीकी दयाका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गुरुपुत्र अश्वत्थामाको छोड़ दिया। (द्रौपदी-जैसी आर्य ललनाकी यह उदात्तता कितनी अर्हणीय है!)

## मालवीयजीकी महत्ता

महामना मालवीयजीको एक विद्वान्‌ने कहा—'महाराज! आप मुझे सौ गालियाँ देकर देख लें, मुझे क्रोध नहीं आयेगा।' इसपर मालवीयजीने मुस्कराते हुए कहा—'पण्डितजी! आपके क्रोधकी परीक्षा तो सौ गालियाँ देनेपर होगी, पर मेरी जबान तो पहली ही गालीसे गंदी हो जायगी, मैं ऐसा क्यों करूँ?'

## सबसे महान् कौन

एक बार देवर्षिके मनमें यह जाननेकी इच्छा हुई कि जगत्‌में सबसे महान् कौन है। उन्होंने सोचा कि चलूँ भगवान्‌के पास ही चलकर पूछूँ। वहीं इसका ठीक-ठीक उत्तर मिल जायगा। वे सीधे बैकुण्ठमें गये और वहाँ जाकर प्रभुसे अपना मनोभाव व्यक्त किया।

प्रभुने कहा—नारद! सबसे बड़ी तो यह पृथ्वी ही दीखती है, पर वह समुद्रसे घिरी हुई है, अतएव वह भी बड़ी नहीं है। रही बात समुद्रकी, सो उसे अगस्त्य मुनि पी गये थे, अतः वह भी बड़ा कैसे

हो सकता है। इससे तो अगस्त्यजी सबसे बड़े हो गये। पर देखा जाता है कि अनन्ताकाशके एक सीमित सूचिका-सदृश भागमें वे केवल एक खद्योतवत्— जुगनूकी तरह चमक रहे हैं, इससे वे भी बड़े कैसे हो सकते हैं? अब रहा आकाशविषयक प्रश्न। शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है कि भगवान् विष्णुने वामनावतारमें इस आकाशको एक ही पगमें नाप लिया था, अतएव वह भी उनके सामने अत्यन्त नगण्य है। इस दृष्टिसे भगवान् विष्णु (हरि) ही सर्वोपरि महान् सिद्ध होते हैं। तथापि नारद! वे भी सर्वाधिक महान् नहीं हैं, क्योंकि तुम्हारे हृदयमें वे भी अङ्गुष्ठमात्र स्थलमें ही सर्वदा अवरुद्ध देखे जाते हैं। इसलिये भैया! तुमसे बड़ा कौन है? वास्तवमें सर्वत्र भगवदर्थी, विनयी भक्तरूप तुम ही सबसे महान् सिद्ध हुए—

पृथ्वी *तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधिः
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।
तद्व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन खं
तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्॥

# दहेजके लिये नव-वधुओंका उत्पीड़न एक महान् पाप

कम दहेज मिलनेके कारण आये दिन नवविवाहिता युवतियोंके उत्पीड़नका समाचार मिलता रहता है। यहाँतक कि कुछ नव-वधुएँ उत्पीड़नके कारण आत्महत्या-तक कर लेती हैं या कहीं-कहीं ससुरालवालोंके द्वारा उनकी हत्या करा देनेकी बात भी कही जाती है। इस प्रकारके समाचार समाजके लिये लज्जाजनक तो हैं ही, धार्मिक जगत्के लिये भी अत्यन्त दुःखदायी एवं कष्टप्रद हैं। मानवीय मूल्योंके आधारपर तो इस बातकी जितनी भी कड़ी निन्दा की जाय, वह बहुत ही थोड़ी होगी। साथ ही अपनी संस्कृति और धर्मके अनुसार इस प्रकारका क्रूरतापूर्ण व्यवहार एवं जघन्य कृत्य करनेवालोंकी क्या गति होगी, यह नहीं कहा जा सकता।

लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे भी प्रत्यक्षतः स्त्री-जातिका कितना त्याग है, इसका शब्दोंमें वर्णन नहीं हो सकता। प्रारम्भके जीवनमें पंद्रह-बीस सालतक अपने माता-पिताके संरक्षणमें लाड़-प्यारसे पलनेवाली निश्छल और सरल बालाको विवाहके पश्चात् यकायक अपने उस पुरातन गृह, उन माता-पिता और बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर नये घरमें नये लोगोंके बीच आना पड़ता है, जहाँ उसके लिये एक नया संसार होता है। क्या यह उस नारीका कम त्याग है? उस नये परिवारमें उसे अपनी सास, श्वसुर, ननद, जेठानी और पतिदेवसे आवश्यक स्नेह और सद्व्यवहारके बदले यदि उसे दहेज और धनके लिये वाग्बाण, उत्पीड़न, यातना और दुर्व्यवहार प्राप्त होता है तो यह उसके कोमल हृदयके लिये अत्यन्त क्लेशकारक और कष्टदायी तो होता ही है, भारी अधर्म भी होता है। यह अधर्म कुलके लिये विनाशक हो सकता है—समाजके लिये भारी कलंक तो है ही।

धन तो संसारमें सभी चाहते हैं। अपने यहाँ चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें धन-(अर्थ-) की गणना भी की गयी है, पर वह धन किस कामका जो क्लेश, यातना और परपीड़न एवं विवशताके फलस्वरूप प्राप्त होता हो। इस प्रकारका धन तो परिवारमें स्वाभाविक रूपसे रहने-

* कहीं-कहीं क्षितीशवंशादिमें 'श्रीमदनङ्ग भीम नृपते' पाठ है। अतः इससे अन्य भक्तोंकी भी प्रशस्ति समझनी चाहिये।

वाली सुख-समृद्धि और शान्तिका भी विनाश करनेवाला ही होता है।

भारतीय परम्परा तो यह है कि कन्या-पक्षके लोग कन्याके साथ अपने सामर्थ्यानुसार वस्त्राभूषण तथा धन भी विवाहमें देते हैं, पर वरपक्ष इसे अत्यन्त संकोचपूर्वक ही स्वीकार करता है। कारण, यह भी एक महान् प्रतिग्रहका ही स्वरूप है। शास्त्रोंमें भारतीय पद्धतिमें विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है, जिसमें पिता ( दाता-या यजमान-रूपमें ) अग्नि और देवताके साक्ष्यमें वरको अपनी कन्याका दान करता है। वह वरको विष्णुरूप और कन्याको लक्ष्मीस्वरूप कहकर दान देता है—**'विष्णुरूपिणे वराय लक्ष्मीस्वरूपिणीं कन्यामिमां सम्प्रददे।'** अपनी भारतीय संस्कृति वरको साक्षात् नारायणका स्वरूप एवं वधूको भगवती लक्ष्मीका स्वरूप मानती है। इसी प्रकार हमारी संस्कृतिमें नारी अपने पतिको परमेश्वर मानकर पूजा करती है और उसी प्रकार पुरुषको भी अपनी भार्यामें भगवती राज-राजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरीका दर्शन करना चाहिये। यही इस प्रकार धर्म—धर्मके अनुकूल पथ है। पति-पत्नीमें तथा परिवारके अन्य सदस्योंमें यदि एक-दूसरेके प्रति भगवद्-बुद्धि बन जाय तो घर घर नहीं, भगवान्‌का मन्दिर बन जाय।

कभी ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हो सकते हैं कि अज्ञानताके कारण नवागन्तुक वधूमें कोई स्वभावगत कमजोरी हो, जैसे—क्रोध, अवज्ञा, राग-द्वेष इत्यादि; जिससे परिवारके दूसरे लोगोंको कष्टकी अनुभूति भी हो सकती है। पर ऐसे अवसरपर भी अपनी भावनामें कोई भेद न लाकर सहिष्णुता एवं धैर्यका अवलम्बन करते हुए परमपिता प्रभुसे ही उसके सुधारके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। आप यह अनुभव करेंगे कि भगवत्कृपासे स्वभावगत दोष या तो समाप्त हो गये या उनकी प्रतीति ही आपको नहीं होती।

यह एक अत्यन्त अनूठी और सरल प्रक्रिया है, जिसके प्रयुक्त होनेपर लोक-परलोक दोनों सुधर सकते हैं। यह भारतके ऋषि-महर्षियोंकी देन है, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। भारतीय वधू 'पत्नी' होती है, साधारण नारी नहीं। अनेक शास्त्रोंने तो उस विशिष्ट नारी-( वधू-) को सर्वोच्च श्रद्धा प्रदान की है। यहाँतक कहा गया है कि स्त्रीकी प्रसन्नतासे परिवारमें सब प्रसन्न रहते हैं—**'स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।'** ( मनु० ३। ६२ )।' उसके दुःखी और अप्रसन्न होनेसे सभी शोकातुर और दुःखी हो जाते हैं। यहाँतक कि सम्पूर्ण कुलका विनाश हो जाता है। **'शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्'** अतः अपनी मङ्गलकामना चाहनेवालोंको घरमें नारीका विशेषरूपसे सम्मान करना चाहिये। जिस घरमें नारीका सम्मान होता है वहाँ साक्षात् लक्ष्मी-नारायण प्रभुका निवास होता है—**'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।'** ( मनु० ३। ६२ )

हमारा यह पावन सामाजिक और धार्मिक कर्तव्य है कि परिवारमें या समाजमें किसी नारीका उत्पीड़न नहीं होने दें। यह हमारी भारतीय परम्परा है। समाज और धर्मके प्रति अपने कर्तव्यका पालन न करना एक महान् पाप है।

—राधेश्याम खेमका